गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मूल बँगला कृति

गीताञ्जलि

(हिन्दी पद्यानुवाद)



अनुवादक

बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य'

लखनऊ

अभिनन्दना

कविवर पं० बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य' जी कवित्व की दृष्टि से भव्य भी हैं और दिव्य भी। उन्होंने मौलिक महाकाव्यों की रचना के साथ साधनासाध्य महान् कृतियों का पद्यानुवाद भी किया है। श्रीमद्भगवद्गीता का अमृत तत्त्व, मेघदूत और कुमारसम्भव की श्रृंगार–धारा और भर्तृहरि–नीतिशतक, वैराग्यशतक की सूक्ति सरस्वती की धारा से हिन्दी में त्रिवेणी प्रवाहित की है। उनकी साहित्य–साधना अभिनन्दनीय है। इस साहित्य–यज्ञ में उन्होंने स्वार्जित धन की आहुतियाँ भी दी हैं। इस यज्ञ से उनका मानव–जीवन धन्य हो गया है। उन्होंने प्रान्तीय भाषाओं से भी अमृत संचित किया है। पंजाबी से नानकवाणी (जपु जी) का अनुवाद किया है। सर्वाधिक स्पृहणीय अनुवाद बँगला 'गीताञ्जलि' का अनुवाद है। इसके भाव और दार्शनिक विचार अक्षत रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। 'भव्य' जी का छन्द–सौष्ठव और भाषा–मार्दव प्रशंसनीय है। प्रस्तुत अनुवाद उनकी अभिनन्दनीय उपलब्धि है। उनके कृतित्व का मूल्यांकन महान् मनीषी सहृदय ही कर सकते हैं। मैं उनके अवदान को महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। हिन्दी प्रेमी इस अमृत–घट से रस–पान कर अमर हो जायेंगे। शिवमस्तु!

अभिनन्दक,

सी–६८४–८५, सेक्टर-बी. महानगर, दूरभाष : ३८४४२४

पुत्तूलाल शुक्ल 'चन्द्राकर'
सेवानिवृत्त प्राचार्य राजकीय महाविद्यालय (उ०प्र०)
प्रथम उपशिक्षानिदेशक (संस्कृत)

३० नवम्बर २००१

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मूल बँगला कृति

गीताञ्जलि

(हिन्दी पद्यानुवाद)

अनुवादक

बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य'

लखनऊ

गीताञ्जलि (हिन्दी पद्यानुवाद)

अनुवादक एवं प्रकाशक :
बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य'
भव्य भारती
७०, चाँदगंज गार्डेन, लखनऊ – २२६०२४
दूरभाष : (०५२२) ३३५२६२

प्रथम संस्करण – सन् २००१

मूल्य : अस्सी रूपये मात्र 80/–

मुद्रक :
माइक्रो प्रिन्टर्स
१२ – यू. जी. एफ., ज्ञान भवन
कपूरथला, अलीगंज, लखनऊ – २२६०२४

GITANJALI (Translation from Original Bangla to Hindi Poetry)

Translator & Publisher :
Baijnath Prasad Shukla 'Bhavya'
Bhavya Bharati
70, Chandganj Garden, Lucknow-226024 (INDIA)

First Edition - 2001
Price : Rs. 80.00 (Rupees Eighty ony)
Printer : Micro Printers, 12-Gyan Bhawan, Kapoorthala, Aliganj, Lucknow-24

वन्दन

भक्ति–भावित मञ्जु रसमय, गीत ये आनन्द–घन।
तृप्तिप्रद अनुगान इनका, विश्वकवि! शत–शत नमन।।

"भव्य"

बधाई

"मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताञ्जलि का हिन्दी काव्यांकन किया है और आप उसका प्रकाशन कराने जा रहे हैं। मैं आप को इस अच्छे कार्य के लिए बधाइयाँ देता हूँ।"

विष्णुकान्त शास्त्री

दिनांक २६ अक्टूबर २००१ (राज्यपाल उत्तर प्रदेश)

आशीर्वाद

"पूरी गीताञ्जलि का अनुवाद एक बड़ी उपलब्धि है। अनुवाद करना बड़ा कठिन काम है—वह भी रवीन्द्रनाथ ऐसे महाकवि के सर्वोत्तम काव्य का। इस प्रयास के लिए 'भव्य' जी को बड़ा श्रेय है।"

श्रीनारायण चतुर्वेदी

खुर्शीद बाग , लखनऊ

८–५–१९८६

अभिमत एवं मंगलकामना

"अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है। मुझे विश्वास है कि यह अनुवाद, हिंदी का प्रत्येक अनुरागी पढ़, आनंदित होगा।

मैंने इस कृति के अनेक अनुवाद पढ़े हैं, किन्तु यह मुझे सर्वश्रेष्ठ लगा। मेरी हार्दिक शुभकामनायें सदैव श्री बैजनाथ जी के साथ रहेंगी।"

गौरा पंत शिवानी

६६, गुलिस्तां कालोनी
लखनऊ

३–४–२००१

गीताञ्जलि का भव्य जी कृत अनुवाद परम रमणीय एवं मूल के अतीव सन्निकट है। मैं भव्य जी को साधुवाद देता हूँ और मेरी मंगलकामनाएं – "शिवास्ते पन्थानः सन्तु"।

रमा शङ्कर तिवारी

२०, लक्ष्मणपुरी
फैजाबाद
१८–१२–२००१

आत्म निवेदन

"गीताञ्जलि" गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्वविश्रुत कालजयी काव्यकृति है जिस पर उन्हें सन् १९१३ में संसार का सर्वश्रेष्ठ नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। भारत ही नहीं अपितु एशिया महाद्वीप के वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्हें यह पुरस्कार प्राप्त करने का गौरव मिला। इस अंग्रेजी गीताञ्जलि में कुल १०३ रचानाएं हैं जिनमें से ५३ रचनाएं मूल बँगला "गीताञ्जलि" से हैं। शेष उनकी अन्य काव्य कृतियों–गीतिमाल्य नैवेद्य, खेया, शिशु, चैतालि, स्मरण, कल्पना, उत्सर्ग तथा अचलायतन से ली गयी हैं। यह नवम्बर १९१२ में इन्डिया सोसाइटी लन्दन से प्रकाशित कवि द्वारा स्वयं किये गये अग्रेजी अनुवाद के रूप में थी । इसकी भूमिका प्रसिद्ध कवि डब्ल्यू. वी. येट्स ने लिखी थी।

कई वर्ष पूर्व मैं ऐसी विश्ववंद्य पुस्तक को पढ़कर भाव–विभोर होगया। तीव्र इच्छा हुई कि मूल गीताञ्जलि जो स्वदेश भारत की एक सशक्त, मधुर एवं समृद्ध भाषा बँगला में है, उसका रसास्वादन किया जाय। बँगला भाषा न जानने के कारण प्रथमतः उसके हिन्दी अनुवादों को पढ़ गया। कई उत्तम अनुवाद देखने को मिले। फिर तो मूल बँगला गीताञ्जलि पढ़ने की लालसा और अधिक जाग्रत हुई। प्रभु–इच्छा से सेवा काल में एक सुयोग उपस्थित हुआ। सन् १९५२ में मेरा स्थानान्तरण कलकत्ता टेलीफोन्स डिस्ट्रिक्ट कलकत्ता के कार्यालय में सीनियर एकाउन्टेन्ट के पद पर हो गया। वहाँ मैं तीन वर्ष, नवम्बर १९५५ तक कार्यरत रहा। यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे बँगला भाषाभाषियों के साथ कार्य करने का स्पृहणीय अवसर मिला। मैं उनके बीच में प्रायः एक मात्र हिन्दीभाषी था। उनके साथ भाषिक आत्मीयता स्थापित करना मेरे लिए अनिवार्य ही नहीं सुखद भी था। बँगला भाषा का लिपि–ज्ञान अत्यल्प समय में हो गया। व्याकरण–बोध भी प्राप्त किया। हिन्दी भाषा से बहुत मिलती–जुलती भाषा होने से बँगला पढ़ने, समझने में कोई कठिनाई नहीं मालुम हुई। सर्व प्रथम गुरुदेव की कहानी की पुस्तक 'गल्प गुच्छ' पढ़ गया और आगे पढ़ने का अभ्यास बढ़ाता गया। वहाँ बहुत से सात्त्विक प्रकृति के सहकर्मियों एवं अन्य सज्जनों के सम्पर्क में आया, जिनसे परमहंस श्री रामकृष्ण, शारदा

माँ, उनके पट्ट शिष्यों एवं दक्षिणेश्वर, वेलूर मठ के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त हुई। फलतः इन महान आत्माओं के जीवन–वृत, और इनके लिखित उपदेशों की पुस्तकों के पढ़ने से आनन्द तो आया ही, साथ ही साथ गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की बँगला काव्य कृतियों की ओर विशेष आकर्षित हुआ। बँगला भाषा के प्रति अनुराग बढ़ता गया। एक स्मरणीय घटना है कि जब मेरा स्थानान्तरण नवम्बर १९५५ में कलकत्ता से दिल्ली को हुआ तो विदाई के अवसर पर मैंने अपने बंगाली सहकर्मी बन्धुओं को जो सम्बोधित किया था वह बँगला कविता में था। कार्यालय में अति व्यस्तता के कारण साहित्य–अध्ययन के लिए अवकाश अति स्वल्प ही मिल पाता था। सृजन–कार्य में प्रवृत्त होने की बात तो दूर रही। ३० नवम्बर १९७५ को सेवानिवृत्त होने के उपरान्त मेरे पास अवकाश का प्राचुर्य हो गया। मुझे साहित्य ही एक ऐसा विस्तृत, रुचिकर क्षेत्र दिखाई पड़ा जिसमें अपने समय का सदुपयोग करना मुझे सुगम और हितकर लगा। हिन्दी साहित्य के अध्ययन एवं सृजन के साथ अनुवाद–रचना की ओर भी विशेष ध्यान गया। श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी पद्यानुवाद १९८४ में करने के उपरान्त गुरुदेव की मूल बँगला गीताञ्जलि जिसका प्रथम संस्करण–सन् १९१० में हुआ था, का हिन्दी पघानुवाद करने की सहज प्रेरणा मिली। मुझे बँगला भाषा की शिक्षा किसी शिक्षालय से औपचारिक रूप से प्राप्त नहीं थी। अतः यह अनुवाद कार्य केवल स्वाध्याय एवं श्रद्धा के सहारे ही हुआ है।

अनुवाद के लिए मूल भाषा तथा अनुवाद भाषा दोनों का सम्यक् ज्ञान और उस पर पूर्ण अधिकार अनिवार्य है। इस दृष्टि से यह मेरा दुस्साहस ही कहा जायेगा जो मैं गुरुदेव की सर्व श्रेष्ठ बँगला कृति, गीताञ्जलि का हिन्दी पद्यानुवाद करने में प्रवृत्त हुआ। श्रद्धा का आश्रय मेरे लिये सब कुछ था।

गीताञ्जलि की भाव–गरिमा, काव्य–माधुर्य, शिल्प एवं संगीत से अभिभूत होकर १९८६ में इस कार्य में प्रवृत्त हुआ। परम सत्ता के प्रति गुरुदेव के ये सम्बोधन–प्रभु, सखा, जननि, माझी, प्राण के देव, अन्तरतम, प्रियतम, नाथ, सुन्दर, स्वामी, हृदय–हरण एवं उनकी दिव्य अनुभूतियाँ,

प्रकृति के साथ उनका तादात्म्य, प्रकृति में उल्लास एवं विषाद, चेतना की व्यापकता, मानव संवेदना, भेद–भाव राहित्य, सब में समानता और एक ही परम सत्ता का विविध रूपों में दर्शन, हृदय को उदार, भगवन्निष्ठ, करुण, एवं संवेदनशील बनाने में सर्वथा सक्षम हैं। परम सुन्दर के साथ उनकी मान–मनौवल, मधुर हठ, करुण निवेदन, सुखमय साहचर्य, प्रेम–पुलक, गन्ध, रोमाञ्च सभी कुछ दिव्य प्रभावोत्पादक हैं।

इस गीति–काव्य में निहित भाषा, भाव और संगीत, तीनों को एक साथ अनुवाद में उतार पाना किसी भी अनुवादक के लिए कितना कठिन है, कहा नहीं जा सकता। उपर्युक्त तीनों तत्त्वों में से बहुत हुआ तो कोई दो सँभाले जा सकते हैं, तीसरा तत्त्व ठीक तौर से पकड़ में नहीं आ पाता। मैं स्वयं संगीत से अनभिज्ञ हूँ। अतः हिन्दी कविता जिस तरह से हिन्दी–भाषियों द्वारा साधारणतया सस्वर पढ़ी जाती है, उसी विधि को अपना कर अनुवाद की रचना की गयी है। मूल भाव को वहन करने के लिए जो छन्द जैसा उठ पड़ा, उसी में भाव ढाल दिया गया। कहीं–कहीं गीत–विधा ही में कई रचनाएं सहजता से बसेरा लेने जैसा आ गयीं तो वहाँ गीत–विधा स्वतः अपनाई गयी है।

आदरणीय डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने इस अनुवाद को देखने की कृपा की। उस समय वे विश्वभारती (शान्ति–निकेतन) में हिन्दी विभागाध्यक्ष थे। मेरी सफलता की कामना से उन्होंने मुझे प्रेरित किया कि मैं शान्ति–निकेतन आकर गुरुदेव के उस कक्ष में आकर कुछ समय बैठकर उनके सूक्ष्म स्पन्दनों को ग्रहण करूँ, जहाँ उन्होंने गीताञ्जलि की रचना की थी। अतः दिसम्बर १९८६ में एक सप्ताह शान्ति–निकेतन में रहकर ऐसा किया। डॉ० श्रीवास्तव का आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ। इससे मुझे बहुत बड़ा अवलम्बन मिला और परिष्कार कर अनुवाद को अन्तिम रूप दे पाया।

इस अनुवाद को सन् १९९१ में प्रकाशित कराने के लिए अनुमति लेना आवश्यक था। विश्वभारती के कुलपति महोदय एवं उनके निर्देश पर हिन्द पाकेट बुक्स (प्रा०) लिमिटेड दिल्ली को अनुवाद के प्रकाशन का अधिकार था। उनसे बहुत विनय करने पर भी प्रकाशन की अनुमति नहीं

मिल सकी क्योंकि गुरुदेव की १२५ वीं जयन्ती इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त समय था और हिन्द पाकेट बुक्स ने इसका हिन्दी अनुवाद इस अवसर पर प्रकाशित करा लिया था। अस्तु, कापीराइट, अवधि के बीतने की प्रतीक्षा कुछेक माह करनी पड़ी। किन्तु इस बीच एक नयी बाधा उत्पन्न होगयी। कापीराइट की अवधि १० वर्ष बढ़ा दी गयी। मुझ ७३ वर्षीय व्यक्ति के लिए दस वर्ष का समय बहुत था। बड़ा दुःख हुआ! भगवत्–कृपा से १० वर्ष कुशलता से बीत गये। कापीराइट अवधि समाप्त होने पर इस अनुवाद को प्रकाशित कराने का सौभाग्य मुझे अब मिला। इसे गुरुदेव की अपार कृपा मानता हूँ।

मुझ अल्पज्ञ से कितनी ही त्रुटियाँ इसमें हुई होंगी। पर क्या किया जाय! गीताञ्जलि में निहित तत्त्व ऐसे उदात्त हैं कि अनेक अनुवादों के होते हुऐ भी "तदपि कहे बिन रहा न कोई" इस उक्ति के अनुसार यह अनुवाद प्रस्तुत हो गया। आशा है– "छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई" मेरी इस विनय पर उदार पाठक ध्यान देंगे।

अन्त में उन समस्त सन्मान्य विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने कृपा करके मुझे अमूल्य सुझाव दिये हैं।

विनयावनत

बैजनाथप्रसाद शुक्ल, 'भव्य'

कार्तिक पूर्णिमा सं० २०५८ वि०

३० नवम्बर २००१

भव्य भारती

७०, चाँदगंज गार्डेन, लखनऊ –२२६०२४

दूरभाष (०५२२) ३३५२६२

गीताञ्जलि

(१)

मस्तक मेरा नत कर दो हे! निज चरणों के रज–तल में।
अहंकार मेरा सारा हे! विगलित कर दो दृग–जल में।।

निज को ही दे–देकर मान,
करता केवल निज अपमान,

घूम–घूम कर मैं निज हित ही, मरता–मिटता पल–पल में।
अहंकार मेरा सारा हे! विगलित कर दो दृग–जल में।।

ऐसा कर दो करूँ न जिससे, निज कर्मो से आत्म–प्रचार।
कर लो मेरे जीवन में हे! अपनी इच्छाएँ साकार।।

चाहूँ तेरी चरम शान्ति हे!
प्राणों में तव परम कान्ति हे!

मुझे ओट में रख कर अपनी, राजो हृदय कमल–दल में।
अहंकार मेरा सारा हे! विगलित कर दो दृग–जल में।।

(२)

विपुल वासनाओं को मैंने, चाहा सदा प्राणप्रण से।
पर है नित्य बचाया तुमने, मुझको रख वंचित उनसे।।
ऐसी कृपा कठोर तुम्हारी, संचित होती है आयी।
परिपूरित कर मेरा जीवन, व्यापक हो उसमें छायी।।

बिना याचना के ही तुमने, मुझको कितना किया प्रदान।
गगन मिला, आलोक मिला है, मिले मुझे हैं तन–मन–प्राण।।
दिन–दिन तुम इस महादान की, मुझे पात्रता देते हो।
अति इच्छाओं के संकट से, बचा मुझे तुम लेते हो।।

कभी भूलता और कभी मैं, चलता देख तुम्हारी ओर।
सम्मुख से हट तब तुम ओझल, हो जाते हो निठुर कठोर।।
जान रहा हूँ अहो! तुम्हारी, करुणा का ही यह विस्तार।
अपनाने के हित ही मुझको, लौटाते हो बारम्बार।।
अपने मिलन–योग्य कर लोगे, मेरा जीवन कर भरपूर।
मुझे अधूरी इच्छाओं की, विपदाओं से रख कर दूर।।

(३)

कितने अनजानों से तुमने, परिचित मुझे कराया है।
कितने आवासों में तुमने, मुझको वास दिलाया है।।
भ्रात किये पर जन को तुमने, निकट बन्धु उनको जो दूर।
तभी पुराना घर तजते क्षण, होता मन अति भय से पूर।।
क्या जाने क्या होगा मेरा, इस शंका से हो मृतप्राय।
जाता भूल पुरातन तुम ही, प्रकटे हो धर नूतन काय।।
जीते–मरते निखिल भुवन में, मुझे जहाँ जब ले जाते।
हे! चिर जन्मों के परिचित तुम, सबसे परिचय करवाते।।
जान लिया जब तुमको तो फिर, कौन पराया रहा कहीं।
कहीं निषेध न रह जाता तब, रहता भय का नाम नहीं।।

जाग रहे तुम मिला सभी को, करो कि हो यों नित दर्शन।
तुमसे यही याचना मेरी, मात्र यही है अभ्यर्थन।।

(४)

करो विपद में मेरी रक्षा, इसकी विनती करूँ नहीं।
मैं तो यही चाहता केवल, विपदाओं से डरूँ नहीं।।
दुःख–ताप से व्यथित चित्त को, नहीं सान्त्वना की है चाह।
मैं तो यही चाहता केवल, दुख को जीत बढ़ूँ निज राह।।
नहीं सहायक बनने को यदि, कोई भी आगे आये।
मैं तो यही चाहता केवल, निज बल तब न टूट जाये।।
नहीं चाहता भार हमारा, हल्का कर आश्वस्त करो।
मैं तो यही चाहता केवल, वहन करूँ वह शक्ति भरो।।
सुख में रहकर नत मस्तक मैं, तव मुख–छवि लूँगा पहचान।
जिससे तुम पर करें न संशय, दुख में जग–वंचित मम प्राण।।

(५)

विकसित कर दो अन्तर मेरा, विनय यही अन्तरतर हे।
निर्मल कर दो उज्ज्वल कर दो, कर दो अन्तर सुन्दर हे।।
जाग्रत कर दो उद्यत कर दो, कर दो निर्भय अन्तर हे।
मंगल कर दो निरलस कर दो, लो मेरे संशय हर हे।।
विकसित कर दो अन्तर मेरा, विनय यही अन्तरतर हे।।
मुझे जोड़ दो सबके सँग में, मुक्त करो सब बन्धन हे।
हो मेरी सब कृतियों में तव, शान्त सुछन्द संचरण हे।।
कर दो पाद–पद्म में अपने, शान्त सुदृढ़ मेरा चित हे।
कर दो नन्दित, कर दो नन्दित, कर दो नन्दित, नन्दित हे।।
विकसित कर दो अन्तर मेरा, विनय यही अन्तरतर हे।।

(६)

सब धरा स्वर्ग में प्रेम से प्राण से,
हर्ष आलोक से गन्ध से गान से,

ला प्लवन शुचि सुधा तव रही नित्य झर।

बन्ध दिशि औं. विदिशि के सभी भंग कर,
आज आनन्द चैतन्य है रूप धार,
प्राण मेरे सुधा से गये पूर्ण भर।

मध्य कल्याण–ह्रद आज चैतन्य मम,
प्रस्फुटित है परम हर्ष से पद्म–सम,
सकल मधु. उसी का तुम्हारे चरण धर।

शान्त आलोक है मध्य उर जग रहा,
है उदय क्षण अरुण द्युति उषा की महा,
अलस इन दृगों से गया ओट हटकर।

(७)

नव–नव रूप धरे प्राणों में, आओ हे! तुम आओ।
आओ गन्धों में, वर्णो में, आओ हे! तुम आओ।
परस पुलकमय बन अंगों में, आओ हे! तुम आओ।
उर में बन कर हर्ष अमृतमय, आओ हे! तुम आओ।
मुग्ध मुदित इन दो नयनों में, आओ हे! तुम आओ।।

आओ निर्मल उज्ज्वल कान्त।
आओ सुन्दर स्निग्ध सुशान्त।

विस्मय के सकल विधानों में,आओ हे! तुम आओ।
नव–नव रूप धरे प्राणों में, आओ हे! तुम आओ।।
आओ दुख में, आओ सुख में, मर्मो में तुम आओ।
आओ निखिल नित्य प्रति दिन के कर्मो में तुम आओ।
सब कर्मो के अवसानों में, आओ हे! तुम आओ।
नव–नव रूप धरे प्राणों में आओ हे! तुम आओ।

अनु० 'भव्य'

(८)

धूप–छाँह की आँख–मिचौनी, चलती धान–खेत में आज।
किसने खोली नील गगन में, धवल मेघ की तरणी साज।
आज भ्रमर मधु की सुधि खोकर,
उड़ें प्रभा में उन्मद होकर,
आज सरित–सिकता–तट पर क्यों, चक–चकवी का जुड़ा समाज।
किसने खोली नीलगगन में, धवल मेघ की नौका साज।।
आज न घर जाऊँगा भाई, आज न मैं घर जाऊँगा।
आज गगन भेदन कर बाहर, खुल कर लूट मचाऊँगा।।
फेन–राशि ज्यों ज्वार–सलिल में,
उठता है त्यों हास अनिल में,
आज दिवस सारा काटूँगा, बजा–बजा वंशी बिन काज।
किसने खोली नील गगन में, धवल मेघ की तरणी साज।।

(९)

आया है आनन्द–जलधि में, आज यहाँ यह कैसा ज्वार।
डाँड़ पकड़ बैठो, सब खींचो, खींचो आज सहित सहकार।।
बोझा जो भी सब भर लूँगा,
दुःख–तरी उस पार करूँगा,
लहरों पर चढ़ पार चलूँगा, प्राण भले ही जाऊँ हार।
आया है आनन्द जलधि में, आज यहाँ यह कैसा ज्वार।।
कौन पुकार रहा पीछे से,
कौन कर रहा रे! वर्जन।
आज कौन करता भय.चर्चा,
भय से विधिवत परिचित मन।

शाप कौन, ग्रह–दोष कौन–से?
क्यों रुक रहूँ तीर पर सुख से?
डोर पाल की कस कर खींचे, गाता जाऊँगा अनिवार।
आया है आनन्द जलधि में, आज यहाँ यह कैसा ज्वार।।

(१०)

साजूँगा तव स्वर्ण–थाल में, आज दुःख लोचन–जल–धार।
जननी! तेरे कण्ठ–हेतु मैं, गूँथूँगा मोती का हार।।
तेरे घर में सूर्य–चन्द्रमा,
माला बन पोहित हैं माँ,
मेरा दुःख किन्तु बन भूषण, होगा तव वक्षालंकार।
जननी! तेरे कण्ठ हेतु मैं, साजूँगा मोती का हार।।
है धन–धान्य सभी कुछ तेरा, कहो करोगी इसका क्या।
देना चाहो तो दो मुझको, लेना हो तो ले लो क्या।
दुख तो मेरा निज का धन है,
जान रही हो शुद्ध रतन है,
दे प्रसाद उसको क्रय करती, यही हमारा गर्वाधार।
जननी! तेरे कण्ठ हेतु मैं, गूँथूँगा मोती का हार।।

(११)

काशस्तवक रचा है हमने, गूँथा स्रज ले शेफाली।
नवल शालि की मंजरियों से, सज्जित कर लाये डाली।।
आओ शारद–लक्ष्मी आओ, चढ़ निज शुभ्र मेघ–रथ पर।
समारूढ़ होकर हे आओ, इस नीले निर्मल पथ पर।।
धौत सुश्यामल प्रभा–समुज्ज्वल, गिरि पर्वत वन से आओ।
हिम शिशिरान्वित सित शतदल का, मुकुट पहन करके आओ।
भरित गंग–तट, निभृत कुंज में, झरित मालती सुमन–रचित।
पीठ निकट तव हंस विचरता, कि हों पंख तव पद–निपतित।।
निज वीणा के स्वर्ण तार पर, कर दो झंकृत मृदु मधुतान।
तव सुहास–रंजित सुर का हो, मम दृग–जल में द्रुत अवसान।।

अनु० 'भव्य'

पारस मणि जो रह–रह झलके, अलकों के अवगुंठन में।
सकरुण कर से वह सहलाये, पल भर को आकर मन में।।
मेरी सारी चिन्ताएं भी, तब हो जायेंगी सोना।
अंधकार का नाम न होगा, होगा जगमग हर कोना।।

(१२)

अमल धवल इस तरणि–पाल में, लगता है मृदु मन्द पवन।
देखा नहीं, न कभी दिखा है, तरणी का यों परिभ्रमण।।
किस समुद्र–तट से लाता है, किस सुदूर का ऐसा धन।
घन चिन्तन में तिरता जाता, ऐसे में यह मेरा मन।।
और चाहता छोड़ चले यह, सब कुछ इसी ओर तट पर।
जो कुछ चाहा जो कुछ पाया, अब तक सारे जीवन भर।।
पीछे जल झर–झर झरता है, जलद मन्द्र रव रहा पुकार।
मुख पर अरुण किरण आ पड़ती, छिन्न मेघ में पाकर द्वार।।
अहो कौन हो तुम हे माझी, किसके हास्य–रुदन के धन।
सोच–सोच कर यही हो रहा, कितना व्याकुल मेरा मन।।
आज कौन–सा सुर बाँधोगे, अपने वाद्य यंत्र को साज।।
और कौन–सा मंत्र चुना है, जिसको गाओगे तुम आज।।

(१३)

मेरे नयन–विमोहन आये।
हृदय खोल कर यह क्या देखा, मेरे नयन–विमोहन आये।
होकर हरसिंगार तरु–परिसर,
झरे सुमन की राशि–राशि पर,
शिशिर–सिक्त तृण के प्रसार पर, अरुण चरण धर कर आये।।
मेरे नयन–विमोहन आये।
है आलोक और छाया का, अंचल प्रसरित वन–वन में।
देख वदन वह सुमन कह रहे, बात कौन मन ही मन में।।
आओ वरण करेंगे तुमको,
मुख से सरका लो घूँघट को,
लघु आवरण मेघ का जो वह, युगल करों से हट जाये।
मेरे नयन–विमोहन आये।

अनु० 'भव्य'

वनदेवी के द्वार–द्वार पर,
शंखनाद घन है श्रुतिगोचर,
नभ–वीणा के तार–तार पर,
उठता तव आगमनी का स्वर,
बजता कहीं स्वर्ण नूपुर है,
स्थल वह ज्यों मेरा ही उर है।
पाहन–द्रावक सुधा ढालते, भाव, कर्म सब में छाये।
मेरे नयन–विमोहन आये।।

(१४)

जननी! अरुण किरण में देखा, आज तुम्हारे करुण चरण।
नीरव गगन–व्याप्त जननी! तव, वाणी चुप–चुप मरण–हरण।।
सकल भुवन के भीतर तुम हो, नमन हमारा है तुमको।
जीवन के सब कर्मों में हो, नमन हमारा है तुम को।।
लो तन–मन–धन यही आज हैं, भक्ति–सुपावन पूजा धूप।
जननी! अरुण किरण में देखा, करुण चरण तव आज अनूप।।

(१५)

सकल जगत में गूँज रहा है, अति उदार स्वर में सुख–गान।
कब गूँजेगा गहन स्वरों में, मेरे उर में भी वह गान।।
जल आकाश, प्रकाश पवन हैं, प्रेम करूँगा कब सबसे।
सभा जोड़कर कब बैठेंगे, वे उर में अति सज–धज से।।
युगल दृगों के खुलते ही कब, सुखमय होंगे मेरे प्राण।
जाऊँ मैं जिस किसी राह से, करूँ सभी को तोष प्रदान।।
तुम हो–ऐसा बोध सहज कब, होगा मेरे जीवन में।
होगा स्वतः नाम कब तेरा, ध्वनित कर्म–सम्पादन में।।

(१६)

घन पर घन आच्छन्न हुये हैं, अन्धकार बढ़ता जाता।
मुझे बिठाया द्वार अकेले, कारण कुछ न समझ पाता।।
कार्य–दिवस में कर्म विविध हैं, नाना लोगों में रहता।
आज तुम्हारे एक भरोसे, बाट जोहना प्रिय लगता।।
दर्शन यदि न मुझे देते हो, करते हो यदि अवहेला।

तो किस भाँति कटेगी मेरी, ऐसी यह बादल–वेला।।
अपलक दृग से दूर दिशा तक, बस तेरा पथ जोह रहा।
रो–रो मेरे प्राण भटकते, खर झंझा में क्षुब्ध महा।।

(१७)

कहाँ प्रकाश, प्रकाश कहाँ रे।
विरह–अनल से उसे जला रे।
यहाँ दीप है पर न शिखा रे।
भाग्य–लेख क्या यही लिखा रे।
इससे तो है मरण भला रे।
विरह–अनल से उसे जला रे।।

दूती बनी वेदना गाती, तेरे हित ही तो हे प्राण।
जाग रहे हैं, हे प्राणेश्वर, तेरे हित ही तो भगवान।।
मध्य निशा घन तम में तुझको, बुला रहे करने अभिसार।
देकर दुख तव मान रख रहे, जगते वे ले तव हित–भार।।
मेघों से आच्छन्न गगन है, उनसे अविरल जल झरता।
किसके हित इस घोर निशा में, मेरा प्राण जगा करता।।
सहसा यह क्यों आकुल होता, क्यों अति व्यथित हुआ जाता।
वारिद से जल झर–झर झरता, झर–झर झरते ही पाता।।
चपला केवल क्षण भर को ही, अपनी कौंध दिखा जाती।
फिर आँखों में और अधिक घन, अन्धकार उपजा जाती।।
नहीं ज्ञात है किस सुदूर थल, गायन स्वर है गुरु गम्भीर।
उस पथ ओर प्राण मेरे सब, खिंच उठते हैं परम अधीर।।
है घन–गर्जन पवन सनन–सन, समय विगत तो नहीं गमन।
श्याम निकष जैसा लगता है, रजनी का तम महा सघन।।

तारक–प्रेम–प्रदीप जला रे।

अनु० 'भव्य'

प्राणाहुति दे उसे जला रे।
कहाँ प्रकाश, प्रकाश कहाँ रे।
विरह–अनल से उसे जला रे।।

(१८)

सावन–घन के गहन तमस में, छिप–छिप कर चरण बढ़ा कर,
रजनी–सम तुम नीरव आये, जन–जन की दृष्टि बचा कर।।
मूँदी आज प्रात ने आँखें, निष्फल पवन पुकार रहा।
ढाँका किसने निलज नील नभ, देकर घन का पटल महा।।
वन–विभाग है कूजन–विरहित, रुद्ध कपाट सभी घर के।
मुझे बता दो पथिक कौन तुम, सूने पथ बिन सहचर के।।
हे! एकान्त सखा, हे! प्रियतम, खुला हुआ है मेरा द्वार।
सम्मुख आकर चले न जाना, स्वप्न सदृश ठुकरा कर प्यार।।

(१९)

निकट हुई आषाढ़ी सन्ध्या, बीत चला है वासर रे।
वर्षा–धारा बन्ध–रहित है, रह–रह झरती झर–झर रे।।
घर के कोने बैठ अकेले, सोच रहा हूँ निज मन में।
कौन बात जाकर कहता है, सजल वात जूही–वन में।।
आज हृदय में ज्वार उठा है, खोजे कहीं न मिलता कूल।
मेरे प्राण रुला जाते हैं, सौरभ दे भीगे वन– फूल।।
आज कौन–से स्वर से भर दूँ, प्रहर–प्रहर निशि अँधियारी।
भूल सभी किस तन्मयता में, होता हूँ आकुल भारी।।

(२०)

प्राण सखे! हे बन्धु! आज है, झंझा–निशि में तव अभिसार।
नभ हताश–सा करता क्रन्दन, नींद न आती पल दृग–द्वार।।
द्वार खोल कर हे प्रियतम मैं, राह देखती बारंबार।
प्राणसखे! हे बन्धु! आज है, झंझा–निशि में तव अभिसार।।

अनु० 'भव्य'

दीख न पड़ता है बाहर कुछ, सोच रही हूँ तव पथ कौन।
जिसे पार करके आओगे, ऐसी सरि सुदूर है कौन।।
आओगे जिस सघन तिमिर में, वह घन वन का कौन कछार,
प्राण सखे! हे बन्धु! आज है, झंझा निशि में तव अभिसार

(२१)

मुझे ज्ञात है, ज्ञात मुझे है, आदि काल से ही तुमने।
डाल दिया है इस जीवन की, धारा में मुझको बहने।।
अकस्मात ही कितने गृह में, कितने पथ में हे प्रियतम!
रखते आये हो तुम मुझको, कर प्राणों में हर्षागम।।
कितनी बार ज़लद के द्वारा, निर्मित पट के पीछे रह।
खड़े हुए दिखते थे मुझको, था तव मुख मधुहास–प्रवह।।
अरुण किरण के भीतर तुमने, अपना चरण बढ़ाया था।
शुभस्पर्श उसका यों मेरे, मस्तक लगा कराया था।।
कितने–कितने लोक काल में, तव अरूप के छवि–दर्शन।
कितने नव–नव आलोकों में, करते आऐ हैं लोचन।।
कितने ऐसे युग बीते हैं, कोई रहा न इसको जान ।
कौन जानता कब से मेरे ,भर–भर उठते आये प्राण।।
कितने सुख में कितने दुख में, प्रेम–गान में भी कितने,
होते आये हैं, रस–वर्षण, अमृत तत्त्व के यों कितने।।

(२२)

गाते हो किस भाँति गुणी तुम, कुछ भी समझ न पाता हूँ।
विस्मय–मुग्ध मौन होकर मैं, केवल सुनता जाता हूँ।।
तव संगीत–ज्योति से सारे, भुवन हो रहे आलोकित।
प्राण उसी का बना अनिल जो, गगन–गगन में है दोलित।।
तव गायन का पुण्य स्रोत ही, हो सुरसरिता–सदृश अधीर।
फूट चला है आकुल हो कर, प्रस्तर–अवरोधों को चीर।।
उर में मेरे अभिलाषा है, तव गायन सँग जुड़ गाऊँ।।
पर प्रयास सब निष्फल होते, वह स्वर कण्ठ न ला पाऊँ।।

अनु० 'भव्य'

मुझमें कितनी चाह घनी है, बोलूँ, कुछ तो बात कहूँ।
पर दिखता जब स्वर न उभरता, भग्न हृदय बस मौन रहूँ।।
हो हताश मैं रो पड़ता हूँ, किया मुझे तुमने बन्दी।
निज अनन्त संगीत- जाल में, किया स्वामि! तुमने बन्दी।।

(२३)

नहीं चलेगा इस प्रकार यह, किसी ओट में छिप रहना।
जान न पाये, कहे न कोई, चुपके उर में आ बसना।।
सकल विश्व में चलती रहती, कैसी लुका-छिपी तेरी।
कितने देश-विदेशों में मैं, देता रहता हूँ फेरी।।
कह दो अबकी मुझसे कह दो, मन के कोने में निजको।
धरने दोगे आप-आपही, नहीं छलोगे तुम मुझको।।
जान रहा हूँ कठिन हृदय यह, तव पद-धारण-योग्य नहीं।
सखे! किन्तु छू तव समीर क्या, प्राण न होंगे द्रवित कहीं।।
क्यों न साधना रंच न मुझमें, तब भी तव करुणा झर के।
पल में सुमन करेगी विकसित, देगी फल विस्मित कर के।।

(२४)

देख न पाऊँ यदि तुमको मैं, अब भी अपने जीवन में।
पा, न सका हूँ तुमको यह तो,बात रहे मेरे मन में।।
जिससे इसको भूल न जाऊँ, याद निरन्तर बनी रहे।
निद्रा एवं सपनों में भी, इसकी पीड़ा बनी रहे।।
इस संसार-हाट में मेरे, जितने दिन कटते जायें।
मेरे दोनों हाथ विपुल धन, क्यों न यहाँ भरते जायें।।
तब भी जैसे-"कुछ न मिला" यह, बात रहे मेरे मन में।
पा न सका हूँ तुमको यह तो बात रहे मेरे मन में।।
पथ पर थक आलस्य-भरा मैं यदि बैठा ही रह जाऊँ।।
धूल-कणों के ऊपर यदि मैं, यत्न-सहित सोने जाऊँ।
तो भी "पथ रह गया शेष यह, बात रहे मेरे मन में।

अनु० 'भव्य'

''पा न सका हूँ तुमको'' यह तो बात रहे मेरे मन में।।
घर में कितना क्यो न मोद हो, वंशी कितनी क्यों न बजे।
तथा विपुल आयोजन पर घर, मेरा कितना क्यों न सजे।।
तो भी ''तव आना न हुआ'', यह बात रहे मेरे मन में।
भूल न जाऊँ बात कभी यह, स्वप्न शयन में चिन्तन में।।

(२५)

देख रहा हूँ भुवन–भुवन में, निशिदिन तेरा प्रकट विछोह।
वन में, गिरि में, गगन–जलधि में, उसके विविध रूप–सन्दोह।।
निशि भर उडु में झलक उसी की, अपलक दृग हो मौन खड़ी।
पल्लव दल में, धारा–रव में, वही व्यक्त बन गीत–कड़ी।।
घर–घर आज वेदना में है, सघन तुम्हारा विरह गँभीर।
व्याप्त उसी से प्रेम–वासना, और कर्म सुख–दुख की भीर।।
है उदास यह जीवन उससे, झरे विरह–विगलित स्वर–गान।
उसी विरह से परिपूरित हैं, ये मेरे अन्तरतम प्राण।।

(२६)

शेष नहीं अब दिवस रहा री!, धरती पर छाया उतरी।
भरने को अब कलश उठा ले, अब चल पड़ री इसी घरी ।।
सान्ध्य गगन को आकुल करता, है जलधारा का कल स्वर।
हमें बुलाती है उस ध्वनि से, ''आजा री! तू अब पथ पर'' ।।
चल–चल री अब कलश उठा ले, घाट पहुँच कर ले जल भर।।
विजन पंथ है अभी किसी का, है न वहाँ आना जाना।
प्रेम–सरित है हुई तरंगित, पवन उठा है मनमाना।।
लौट सकूँगी या कि नहीं मैं, इसका कुछ भी भान नहीं।
किसका परिचय आज मिलेगा, इसका भी कुछ ज्ञान नहीं।।
वहीं घाट पर वीणा–वादन, करता तरि में वही अजान।
चलो चलें अब घाट चलें हम, भर कर कलश धरें जल आन।।

अनु० 'भव्य'

(२७)

आज सजल घन झरते झर–झर।
गगन भेद कर आकुल धारा, सके न समा किसी स्थल पर।
शाल विपिन को कम्पित करती, झंझा रह–रंह गर्जन कर।।
छूट चला है तिर्यक गति से, जल मैदानों के ऊपर।
आज कौन है नृत्य कर रहा, जलद–जटाएं छिटका कर।।
वर्षा में मन मचल रहा है, झंझा में है ज्यों लुण्ठित।
किसके पद पर लोट रहा है, हृदय हमारा आलोड़ित।।
अम्बर से उठ रही आज है, ध्वनि कैसी सुन्दर–सुन्दर।
द्वार–द्वार के अर्गल सारे, विलग हुए खण्डित होकर।।
आज भाद्र में हृदय–मध्य यह, गया कौन पागलपन भर।
आज न जाने कौन हुआ है, मत्त सकल थल, घर–बाहर।।

(२८)

हे प्रभु! तेरे लिए जगे दृग, पर मैं देख न हूँ पाता।
केवल बाट जोहता तेरी, यह भी मन को है भाता।।
हृदय भिखारी तेरे द्वार,
बैठा रज में हाथ पसार,
माँग रहा हूँ करुणा तेरी, कृपा न प्रभु! तेरी पाता।।
केवल चाह किया करता हूँ, यह भी मन को है भाता।।
जग के भीतर जन कितने,
सुख में, उद्यम में कितने,
छोड़ मुझे सब निकले आगे, यहाँ न हूँ साथी पाता।
केवल तेरी चाह बनी है, यह भी मन को है भाता ।।
चारों दिशि में अमृत भरा है।
व्याकुल कितनी श्याम धरा है,
प्रेम–विवश करती है क्रन्दन।
नहीं मिला है, मिला न दर्शन।।
यह सब देख–देख मन मेरा, पीड़ा से है भर जाता।
ऐसी मुझ पर बीत रही है, यह भी मन को है भाता।।

अनु० 'भव्य'

(२६)

धन–जन से हा! सक्त बना हूँ।
तब भी जानो तुमको चाहूँ ।।
बढ़ मुझसे मुझको तुम स्वामी।
जानो उर बस, अन्तर्यामी।।
सब सुख–दुख में मैं भूला हूँ।
तब भी जानो तुमको चाहूँ।।
मैं अभिमान न तज पाता हूँ।
सिर पर धर भ्रमता जाता हूँ।।
तज दूँ इसको तो बच जाऊँ।
जानो–मन से तुमको चाहूँ।।
जो कुछ मेरा यहाँ उसे सब।
ले लोगे निज कर में कब।
सब कुछ तजकर तुमको पाऊँ।
मन ही मन मैं तुमको चाहूँ।।

(३०)

हृदय–हरण हे! जान रहा हूँ, यह तो प्रेम तुम्हारा है।
किसलय पर जो नर्तन करता, हेम वर्ण उँजियारा है।।
यह जो मधुर–मधुर आलस घन, उभर गगन में तैर रहे।
यह जो तन को परस–परस कर, सिंचितसुधा समीर बहे।।
अरुणोदय की प्रभा–धार जो, दृग को प्लावित कर देती।
प्रेममयी यह वाणी तेरी, उर में जो घर कर लेती।।
झुका लिया है तुमने निज मुख, मेरे मुख पर दृष्टि पड़ी।
तव चरणों को आज हृदय यह, छू पाया है–पुण्य घड़ी।।

अनु० 'भव्य'

(३१)

मैं हूँ बैठा हुआ यहाँ पर, गाने को बस तेरा गान।
मुझको अपनी जगत–सभा में, दे दो बस थोड़ा–सा स्थान।।
तेरे जग में नाथ कहीं,
किसी कार्य के योग्य नहीं,
केवल तेरे गायन को ले, सुर भरते ये निष्क्रिय प्राण।
मैं हूँ बैठा हुआ यहाँ पर, गाने को बस तेरा गान।।
निशि में नीरव देवालय में, जब होगा तव आराधन।
गायन करने की आज्ञा तब, मुझको देना हे राजन।।
प्रात समय जब गगन व्याप्त कर,
स्वर्णिम वीणा के सजते स्वर,
देखो तब न दूर पड़ जाऊँ, रखना इतना मेरा मान।
मै हूँ बैठा हुआ यहाँ पर, गाने को बस तेरा गान।।

(३२)

दूर करो भय, दूर करो हे।
निज मुख मेरी ओर करो हे।।
हूँ समीप पर चीन्ह न पाता।
जाने किस पर दृष्टि लगाता।
तुम हो मेरे हृदय–विहारी,
हँस दृग उर की ओर करो हे।।
बोलो मुझसे बात करो हे।
स्पर्श हमारा गात करो हे।
दायाँ हाथ बढ़ाकर अपना,
उठा मुझे निज अंक भरो हे।।
सब असत्य है जो कुछ जानूँ।
जो खोजूँ सब मिथ्या मानूँ।
मिथ्या हास, रुदन मिथ्या है,
सम्मुख आ भ्रम–भूल हरो हे।।

अनु० 'भव्य'

(३३)

फिर आकर इन सबने घेंरा है मेरा मन।
फिर नयनों पर मेरे आ पड़ गया आवरण।।
विविध कथाओं का फिर मेला जो जम जाता।
सकल दिशाओं में वह मेरा चित्त भ्रमाता।।
फिर तो क्रम–क्रम बढ़कर दाह अधिक है होता,
रह पाता हूँ तव चरण–समीप न इस कारण।।
तेरी नीरव वाणी है मेरे उर–तल में।
डूब न जाय कहीं वह जन के कोलाहल में।।
सभी जनों के बीच रहो तुम संग हमारे।
मुझे ओट देकर धर रहना मुझे सँभारे।।
करो कि जिससे सकूँ चेतना में रख सारे,
ये तेरे अतिशय उदार ज्योतिर्मय त्रिभुवन।।

(३४)

ज्ञात नहीं हैं चले आ रहे, कब से मिलने को मुझसे।
तेरे चन्द्र दिवाकर तुमको, कहीं न छिपा सके मुझसे।।
प्रातः सन्ध्या होता आया, कब से तव पद–ध्वनि–संचार।
और निभृत में चुप–चुप उर में, गये तुम्हारे दूत पुकार।।
ए हो पथिक! आज है क्यों यह, मेरे प्राणों में हलचल।
क्यों होता रोमांच हर्ष से, क्यों होता कम्पन पल–पल।
लगता–आज समय वह आया, जब कि कार्य मेरे सम्पन्न।
तव तन– सौरभ–सिक्त पवन जो, महाराज! है अब उपपन्न।।

(३५)

आओ सजल मेघ हे! आओ, ले वर्षा–वारिद आओ।
अपना श्यामल विपुल स्नेह ले, इस जीवन में हे! आओ।।
आओ हे! गिरि–शिखर चूम कर, दे छाया क्षिति कानन को।

आओ अम्बर ढँक कर आओ, लेकर सँग घन–गर्जन को ।।
दर्शाकुल है वन कदम्ब का, सुमनों से पुलकित निर्भर।
सरि के कूल–कूल में उठता, कैसा कल रोदन का स्वर।।
आओ आओ हृदय–हरण हे।
आओ आओ तृषा–हरण हे।
आओ लोचन–शीतकरण हे
अति समीप मन में आओ।।

(३६)

जुड़ न सकेगा क्या रे! तू इस छन्द से?
गिरने, तिरने,मिटने के आनन्द से।।

कान लगा कर क्यों न सुने तू, दिशा विदिश गगनान्तर में।
देख मरण–वीणा बजती है, कितने ही अद्भुत स्वर में।।
रवि में, शशि में, तारक गण में, दौड़–दौड़ वह ही तो रे।
अग्नि प्रज्वलित किये हुये है, सुख जलने में ही तो रे।।
कहाँ जा रहा कौन जानता,मादक गान तान सँग रे।
मुड़े न पीछे क्यों न करो कुछ, यहाँ न कोई बन्धन रे।।
लुण्ठित होना, मुक्त दौड़ना, चलना ही आनन्द रे।।
थिरक इसी आनन्द गान की, पाकर ऋतुएँ नाचें मत्त।
वर्ण, गीत से और गन्ध से, प्लावित कर के धरा समस्त
दूर फेंकना, तजना, तिरना, मर जाना आनन्द भरे।।

(३७)

स्वप्न निशा के टूटे रे, टूटे रे! टूटे रे!,
बन्धन सारे टूटे रे।।

प्राणों को अब ओट न और,
आया बाहर इस जग–ठौर,

उर–शतदल के दल सारे ही, विकसे रे, ये विकसे रे।
अन्त हमारा द्वार तोड़कर,
खड़े हुए जो निज ही चलकर,
दृग–जल से आप्लावित मेरा, उर चरणों पर लोटे रे।

प्रात–प्रभा ने नभ में बढ़ कर,
मेरी ओर बढ़ाया निजकर,
मम कारा के भग्न द्वार पर, जय ध्वनि गूँजे, गूँजे रे।।

(३८)

आज शरद में कौन अतिथि यह, आया इन प्राणों के द्वार।
गा–गा रे आनन्द–गान उर, कर आनन्द–गान–विस्तार।।
नील गगन की नीरव गाथा, शिशिर–सिक्त व्याकुलता आज।
तार–तार में ध्वनित हो उठे, अपनी वीणा ऐसी साज।।
शस्य क्षेत्र के स्वर्णगान सँग, जुड़ जा रे! भर वैसी तान।
और तिरा दे सुर उस सरि में, जहाँ भरी धारा अम्लान।।
आगत को ले देख भली विधि, देख–देख भर सुख गंभीर।
द्वार खोल कर बाहर जा रे, संगी बन रह उसके तीर।।

(३६)

गा न सका हूँ गान अभी वह, जिसे यहाँ गाने आया।
केवल चाह लिये गाने की, सुर न आज तक सध पाया।।
लगा न पाता हूँ वह सुर मैं, सही न बोल–बन्ध जमता।
मेरे प्राणों में है केवल, गाने की ही व्याकुलता।।
हुआ आज का यह दिन भी गत, फूल नहीं वह खिल पाया।
केवल एक हवा बहती है, विकसन–योग न है आया।।
हुआ न उसके मुख का दर्शन, सुने न उसके वचन श्रवण।
केवल उसकी पग–ध्वनि को मैं, सुनता आया हूँ क्षण–क्षण।।
मेरे घर के सम्मुख पथ पर, उसका है आना जाना।

नहीं किसी भी अन्य रूप में, है वह मेरा पहचाना।
बीत गया सारा दिन मेरा, रहा बिछाता आसन ही।
घर में दीपक जला न पाया, आओ, कैसे कहूँ सही।।
पाने की आशा में रहता, अब तक तो न उसे पाया।
गा न सका वह गान अभी तक, जिसे यहाँ गाने आया।।

(४०)

जो खो जाय सुरक्षा उसकी , बैठ करूँगा मैं कब तक।
जग न सकूँगा और नाथ मैं, चिन्तनरत निशि भर अपलक।।

रात दिवस मैं बैठा रहता, रख कर अपने बन्द किंवार।
जो भी आता उसे भगाता, संशय करके बारम्बार।।
कोई नहीं इसी से आता, मेरे सूने प्रांगण में।
बाहर खेल चला करता है, तव आनंदित त्रिभुवन में।।
लगता तुम भी राह न पाते, व्यर्थ लौटना पड़ता है।
जिसको रखना चाहूँ वह भी, मिट्टी में जा गड़ता है।।

(४१)

मलिन वसन यह तजना होगा, तजना ही होगा इस बार।
दैनिक कर्मों से रज–धूसर, इसमें विपुल दोष के दाग।
भार हुआ है इसको सहना, इसमें है कितनी खर आग।।
अब तो काम हुये हैं पूरे, हुआ दिवस का है अवसान।
समय हुआ उनके आने का, आशावान हुये हैं प्रान।।
तब तू आजा अभी नहा कर, प्रेम–वसन में है होना।
चुन ले सन्ध्या–वन –पुष्पों को, माला–गुन्थन है होना।।
आ जा रे! बस, समय नहीं है, करना नहीं तनिक भी वार।
मलिन वसन यह तजना होगा, तजना ही होगा इस बार।।

(४२)

पुलकों से पूरित मन मेरा, दृग में मादकता का राग।
किसने बाँधा मेरे उर को,ले राखी का रंजित ताग।।

आज इसी नभ के ही तल में
फल–फूलों में, जल में, थल में,
किस प्रकार हे मनहर मेरे, प्रसरित करते सुमन पराग।
किसने बाँधा मेरे उर को, ले राखी का रंजित ताग।।
किस प्रकार यह खेल हुआ है, आज हमारा तेरे संग।
मिले हमें, या फिरूँ खोज में, कह न सके मन क्या गति ढंग।
है आनन्द आज किस छल में,
चाहे रो बहना दृग–जल में,
विरह आज है सुमधुर कितना, मुग्ध सभी हैं प्राण–विभाग।
किसने बाँधा मेरे उर को, ले राखी का रंजित ताग।।

(४३)

प्रभो ! न अपना हाथ दाहिना, आज छिपाओ कर वंचन।
नाथ ! तुम्हें पहनाने को मैं, लाया हूँ रक्षा–बन्धन।।
इसे तुम्हारे कर बाँधूँ तो, सबके सँग बँध जाऊँगा।
जो कोई भी जहाँ कहीं भी, उसको पृथक न पाऊँगा।।
अपने और पराये का कुछ, भेद न जिससे आज रहे।
दिखें एक–से घर–बाहर सब, तुम्हीं सभी में राज रहे।।
तुमसे कर विच्छेद संग का, रो–रो कर फिरता रहता।
इसे मिटाने को पल भर को, तुम्हें पुकार लिया करता।।

(४४)

इस जग के आनन्द–यज्ञ में, मुझको मिला निमंत्रण है।
धन्य,धन्य, सब भाँति धन्य यह, मेरा मानव जीवन है।।
मेरे दृग हैं साध मिटाते, रूप–नगर में विचरण कर।
मेरे श्रवण मुदित रहते हैं, सुर गंभीर पान कर–कर।।
दिया यज्ञ में तूने मुझको, वंशी–वादन का ही भार।
गान–गान में गूँथ विचरता, रुदन–हास प्राणों का हार।।
क्या अब समय हुआ मैं आऊँ, करूँ सभा में तव दर्शन।
जय जयकार सुना कर जाऊँ इतना ही है अभ्यर्थन।।

अनु० 'भव्य'

(४५)

कर प्रकाश को तुम प्रकाशमय, आये हे! आलोकालोक।
मेरे नयनों से सारा ही, हुआ विलीन तमस का ओक।।
निखिल गगन में निखिल धरा में, है आनन्द–हास विस्तार।
जहाँ जिधर भी दृष्टि डालता, वहीं सकल सुषमा साकार।।
तव आलोक विटप–दल पर जो, करता नृत्य–उल्लसित प्राण।
तव आलोक विहँग–नीड़ों में, भर जागरण जगाता गान।।
तव आलोक प्रेम परिपूरित, आ छूता है मेरा गात।
मेरे उर में आ सहलाते, तेरे कर निर्मल अवदात।।

(४६)

आसन–तले वहीं माटी में, लोट पड़ा रह जाऊँगा।
तेरे चरणों की रज से मैं, वर धूसरता पाऊँगा।।
मुझे मान दे–देकर क्यों तुम, निजसे और दूर रखते।
भुला न रखना चिर जन्मों तक, ऐसे ही करते करते।।
असम्मान दे कर्षित कर लो, रख लो चरणों में अपने।
पड़ा रहूँगा वहीं धूसरित, निज पद–रज में दो रहने।।

तेरे पथ के पथिक दलों में, हूँगा मैं सबसे पीछे।
मुझको ऐसा पद देना जो, हो नीचे सबसे नीचे।।
कितने ही जब दौड़–दौड़ कर तव प्रसाद लेने आते ।
कुछ न माँग मैं यही वरूँगा, नेत्र रहें दर्शन पाते।।
लूँगा मैं जो बच जायेगा, सब के ही पा जाने पर।
तेरे चरणों की रज में मैं, हो जाऊँ हे प्रभु ! धूसर।।

(४७)

पैठ चला हूँ रूप–जलधि में, आश अरूप रत्न की कर।
जीर्ण तरी ले घाट–घाट पर, अब न लगाऊँगा चक्कर।।
जिससे हो इस बार कि मेरा, ज्वार झेलना मिट जाये।

सुधा–हेतु तल–मग्न बनूँ मैं, मरण अमरता–फल पाये।।
गान जिसे न श्रवण सुन सकते , होता हो वह नित्य जहाँ।
प्राण–बीन लेकर जाऊँगा, अतल सभा के मध्य वहाँ।।
चिर स्वर उसमें साध अन्त के, गायन में क्रन्दन भर कर।
नीरव प्रभु के चरणों पर यह, नीरव वीणा दूँगा धर।।

(४८)

नभ–तल खिले ज्योति–शतदल।
राशि–राशि खिल पुष्प–पंखुरी,
दिग–दिगन्त दिखती है बिखरी,
आच्छादित हो गया तमस का, गहन श्यामतासंयुत जल।
हूँ बैठा सानन्द यहाँ मैं, स्वर्ण–कोश के अन्तस्तल।।
मुझे घेर कर फैल रहा है, धीरे से आभा–शतदल।।

नभ में पवन तरंगित होकर, कैसा है बहता रहता।
हुआ चतुर्दिक गुंजित गान।
नचें चतुर्दिक, दौड़ें प्राण।।
निखिल जगत में स्पर्श व्याप्त जो, तन में है लगता रहता।
हो इस प्राण जलधि में मज्जित,
कर लूँ प्राणों से उर सज्जित।
घेर–घेर कर मुझे समीरण, घूम–घूम अविरल बहता ।।

दश दिशि में फैलाकर अंचल, माटी ने है अंक लिया।
जो–जो जीव जहाँ पाती है,
सबको पास बुला लाती है,
सबके कर में और सभी के, पात्रों में है अन्न दिया।।
भर दो मन को गीत गन्ध से,
रहूँ तृप्त मैं महानन्द से,

अंचल से आवृत कर मुझको, माटी ने है अंक लिया।।
हे आलोक नमन लो मेरा, मेटो मेरे सब अपराध।
मेरे सिर पर धरो मिला जो, मुझे पिता से आशीर्वाद।।
पवन देव हे ! नमन तुम्हें है, मिट जायें मेरे अवसाद।
सब तन में सहला देना जो, दिया पिता ने आशीर्वाद।।
माटी तुमको नमन हमारा, पूर्ण करो मेरी सब साध।
घर भर दो कर फलित उसे जो, दिया पिता ने आशीर्वाद।।

(४६)

आकर आप आप ही ठहरे, रुके यहीं हम सबके घर।
सज्जित कर दो आसन उनका, भाई ! कर लो निज मन भर।।
गा–गाकर आनन्दित मन से, धूल सभी मार्जित कर दो।
और हटाने योग्य वस्तु जो, उनको निष्कासित कर दो।।
जल से सिंचित कर सुमनों को, रख दो डाली में भर कर।
सज्जित कर दो आसन उनका, भाई कर लो निज मन भर।।

वे हम सबके इसी सदन में, वास दिवस निशि हैं करते।
प्रात समय जब वे हँसते हैं, तो प्रकाश से घर भरते।।
ज्यों ही जगकर उठूँ भोर में, और करूँ दृग–उन्मीलन।
तो पाऊँ–वे देख रहे हैं, होकर अति आनन्दित मन।।
वे निज मुख की प्रसन्नता से, सारा घर पूरित करते।
प्रात समय जब वे हँसते हैं , तो प्रकाश से घर भरते।।

वे हम सबके इसी सदन में, करते हैं एकाकी वास।
हम सब जाते और कहीं जब, करने को कोई आयास।।
तो वे आगे निकट द्वार तक, आते करने विदा –प्रदान।
प्रमुदित मन हम आगे बढ़ते, हो आनन्दित गायें ग़ान।।
जब दिनान्त पर हम सब लौटें, नाना कार्य समापन कर।
तो एकाकी दिखें हमें वे, बैठे हम सब जन के घर।।

अनु० 'भव्य'

वे हम सब के इसी सदन में, रहते हैं शाश्वत चेतन।
पड़ कर जब हम सब शय्या पर, रहते सुप्त अचेतन बन।।
जग में कोई देख न पाता, छिपी हुई उनकी बाती।
अंचल ओट लगा रखते हैं, सारी निशि जलती जाती।।
गमनागमन स्वप्न कितने ही, करते सुप्त दशान्तर में।
पर वे हँसते अन्धकार में, बैठे हम सबके घर में।।

(५०)

भक्त ! प्राण के देव अकेले, जाग रहे हैं छिपे जहाँ।
मुझे वहीं का द्वार खोल दो, उन्हें देख लूँ आज वहाँ।।
किसे खोजता रहूँ घूम कर, सारा दिन बाहर रह कर।
सीखी नहीं आरती वह जो, होती सन्ध्या आने पर।।

तेरे जीवन दीपक से निज, जीवन–दीप जलाऊँगा।
अहो ! पुजारी ! आज निभृत में, अपना थाल सजाऊँगा।
दीप–मालिका जहाँ रचा कर, निखिल साधना–रत जन–जन।
मै भी वहीं करूँगा अति लघु, एक किरण–रेखा–अर्पण।।

(५१)

वह आलोक कौन–सा जिससे, प्राण–प्रदीप जला अपने।
आते हो भू पर हे साधक, हे प्रेमी, हे मत्तमने।।
इस अकूल जग में दुःखाहत, तव उर में वीणा मुखरित।
घोर विपद में भी हँसते हो, लख किस माँ का मुख सस्मित।।
कौन जानता किसे खोजते, विचर रहे कर सब सुख छार।
कर यों व्याकुल कौन रुलाता, किसके प्रति है इतना प्यार।।
तुम्हें न कुछ चिन्ता, यों सोचूँ, संग कौन है तव मन में।
किस अनन्त प्राणोदधि में हो, तज यम–भय सुख–सेवन में।।

अनु० 'भव्य'

(५२)

तुम तो मेरे अपने ही हो, रहते हो तुम मेरे पास।
यहीँ बात कहने दो मुझको, यह कहने का दो अवकाश।।
मेरे जीवन का सुख सारा, करता केवल तुममें वास।
यही बात कहने दो मुझको, यह कहने का दो अवकाश।।
दे दो मुझको अमृत–भरा सुर, कर दो वाणी युक्त–मिठास।
हो तुम मेरे प्रियतम–बस यह, कहने का दे दो अवकाश।।
एक तुम्हीं से परिपूरित है, निखिल धरा सारा आकाश।
दुखी जानकर ही ढिग आते, लघु लख करते प्रेम–प्रकाश।
यही बात इस छोटे मुख से, कहने का दे दो अवकाश।।

(५३)

नत कर दो, कर दो नत मुझको, अपने चरणों के तल में।
कर दो मन को द्रवित, तिरा दो, जीवन को हे ! दृग–जल में।

अहंकार के तुंग शिखर पर, करता हूँ एकाकी वास।
पाहन–आसन भंग करो यह, मिला धूल में दो सायास।।
नत कर दो, कर दो नत मुझको, करूँ विनत तव पद–तल वास।।

सारहीन जीवन में है क्या, जिसके ऊपर गर्व करूँ।
बिना तुम्हारे सब सूना है, चाहे जितना सदन भरूँ।।

दिन तो मेरे कर्म–मग्न हैं, अहमिति से भरे अतल में।
सन्ध्या कालिक पूजन मेरा, कहीं न चूके निज फल में।।
नत कर दो, कर दो नत मुझको, अपने चरणों के तल में।।

(५४)

सौरभ–सिक्त पवन में किसको, आज खोजता हूँ वन–वन।
क्षुब्ध सुनील गगन में कैसा, आज मचा चंचल क्रन्दन।।
मुझको चिन्तित बना रहा है, दूर दिशागत सकरुण गान।

खोजूँ उर में, मन में किसको, प्रेरित गन्ध–विधुर पवमान।।
ए हो ! जान न पड़ता मुझको, कैसा है वह नन्दन राग।
जिससे प्रेरित सुख को उत्सुक, यौवन आज रहा है जाग।।
आज सुरभि युत आम्र मंजरी, नव पल्लव में मर्मर छन्द।
नभ में शशि–कर–सुधा–सुसिंचित, सरस अश्रु में परमानन्द।।
कौन मुझे करता रहता है, छू करके पुलकित इतना।
आज समीरण प्रवहमान है, सौरभ से अति विकल मना।।

(५५)

देख ! वसन्त आज जाग्रत हो, खड़ा हुआ है तेरे द्वार।
आवृत कुण्ठित तव जीवन में, आया कर न वंचनाचार।।
खोल हृदय– दल, आज खोल रे, विस्मृत कर निज–पर के भाव।
इस संगीत–स्वनित अम्बर में, भर निज गंध–तरंग–प्रभाव।।
बाह्य भुवन में हो दिग्हारा, राशि–राशि माधुर्य–प्रसार।
आज वसन्त देख जाग्रत हो, हुआ उपस्थित तेरे द्वार।।
आज विपिन के पात–पात में, सघन वेदना मुखरित रे।
दूर गगन–पथ किसका लखती, धरा विकल हो सज्जित रे।।
दक्षिण वन की वायु हमारे, प्राणों में है लगती रे।
कराघात कर द्वार–द्वार वह, किसकी वांछा करती रे।।
सुरभि–विकल निशि भू पर जगती, किसके पद पर निज को वार।
ओ हे ! सुन्दर मनहर प्रीतम, किसके हित तव गहन पुकार।।
आज वसन्त देख ! जाग्रत है, हुआ उपस्थित तेरे द्वार।।

(५६)

निज सिंहासन के आसन से, तुम उतरे, नीचे आये।
नाथ ! रुके रह गये खड़े जब, मेरे विजन द्वार आये।।
बैठे–बैठे एकाकी मैं, जाता था निज मन गाये।
वह सुर ज्यों ही सुन पाये तो, तुम उतरे नीचे आये।।
नाथ ! रुके रह गये खड़े जब, मेरे विजन द्वार आये।।

कितने गान सभा में तेरी, कितने ही हैं यहाँ गुणी।
पर तव प्रेम–विवश गायन–रत, आज हुआ यह तव निगुनी।।
एक करुण–स्वर जुड़ा लगा जब, विश्व–तान के अन्तर में।
आये उतर यहाँ तुम नीचे, वरण–माल लेकर कर में।
निज सिंहासन के आसन से, तुम उतरे नीचे आये।
नाथ रुके रह गये खड़े तुम, जब मम विजन द्वार आये।।

(५७)

अपना लो इस बार नाथ हे, हो न विमुख अब कृपा करो।
बरबस मेरा उर कर्षित कर, रख लो अपने पास धरो।।
दिन जो बीते बिना तुम्हारे, नहीं चाहता फिर आयें।
उनके प्रति तो यही भावना, माटी में वे मिल जायें।।
अब तो चाहूँ तव प्रकाश से, मेरा जीवन खिल जाये।
जिससे अहरह जागरूकता, मेरे जीवन में आये।।
पड़ कर किस आवेश, अर्थ में, रहा घूमता जहाँ–तहाँ।
पथ में, वन में, और विजन में, घूमा जाने कहाँ–कहाँ।।
अब की बार नाथ ! मुख अपना, मेरे उर–समीप लाओ।
और प्रभो ! अपनी वाणी में, बातें निज कहते जाओ।।
कितना कलुष कपट कितना ही, मन–कोने में शेष अभी।
इनके कारण अब मत फेरो, भस्म अनल में करो सभी।।

(५८)

जब जीवन हो जाय विरस तब, करुणा–धारा बन आओ।
सकल मधुरिमा जब प्रलुप्त तब, गीत–सुधा–रस बन आओ।
कर्म प्रबल आकार धरे जब, ढँक ले सब कुछ गर्जन कर।
आओ तब मम हृदय–प्रान्त में, शान्ति–नाथ पद नीरव धर।।
दीन हीन मन कृपण संकुचित, हूँ ऐसा जब प्रभु पाओ।
हे! उदार, तब द्वार खोल कर, राजोत्सव करने आओ।।
विपुल वासना–रज से हत–दृग, हूँ अबोध जब यों पाओ।
ए हो पावन! चिरजाग्रत तब, रुद्र प्रभा लेकर आओ।।

अनु० 'भव्य'

(५६)

नीरव कर दो हे ! अब अपने, इस कवि को जो है वाचाल।
बरबस उसकी उर—वंशी ले, गहन बजाओ तुम्हीं सँभाल।।
मध्य निशा के गहन स्वरों में, भर दो ऐसी वंशी—तान।
जिसको सुन कर शशि ग्रहगण भी, हों अवाक अति विस्मय मान।।

जन्म—मरण के मध्य हमारा, जो कुछ है बिखरा प्रसरित।
गायन से खिंच कर हो जाये, सिमट सभी तव पद अर्पित।।
बहुत दिनों की बातें सारी, जायेंगी पल भर में भूल।
एकाकी तब श्रवण करूँगा वंशी जब तम भरा अकूल।।

(६०)

रहता निद्रा—मग्न विश्व जब, और गगन में जब तम—भार।
तब मम वीणा के तारों पर, कौन उठाता यों झंकार।।
होती लुप्त नींद नयनों से, उठकर बैठूँ त्याग शयन।
देख न पाता हूँ उसको मैं, यद्यपि लखता अपलक बन।।
गुंजन पर गुंजन से मेरा, उर पूरित हो जाता है।
जाने कौन विकल स्वर भर कर, वाणी विशद सुनाता है।।
जाने कौन वेदना जिससे, उर आँसू से भर आता।
जाने किसको कण्ठहार निज, पहनाने को हुलसाता।।

(६१)

आये और पास बैठे वे, तब भी तो मैं नहीं जगी री।
हा हतभागिनि ! तुझको कैसे ऐसी निद्रा घोर लगी री।।
नीरव रजनी में वे आये,
कर में थे वे वीणा लाये,
और स्वप्न में गहन रागिनी, गुँजा गये पर तू न जगी री।
हा हतभागिनि ! तुझको कैसे, ऐसी निद्रा घोर लगी री।।
जग कर देखूँ दखिन पवन है,
जिसमें कितना मादकपन है,
भर वह अपनी गन्ध तमस में,
करता चारों दिशि विचरण है।

अनु० 'भव्य'

निशा व्यर्थ क्यों मेरी जाती,
आते हैं, सामीप्य न पाती,
क्यों न परस उनकी माला की, हाय हमारे अंक लगी री।।
आये और पास बैठे वे, तब भी तो मैं नहीं जगी री।।

(६२)

उसकी पग–ध्वनि सुन पाता है, या कि नहीं सुन पाता रे ।
आता है वह, आता है रे, आता है वह आता रे।।
युग–युग पल–पल रैन–दिवस वह, आता है वह आता रे।
गाये जब भी जितने गान ,
पागल–सा निज मन की मान,
सकल स्वरों में ध्वनित हुआ यह, उसका स्वागत गाता रे।
आता है वह, आता है रे, आता है वह आता रे।।

कितने ही फागुनी दिनों वह, रहा विपिन–पथ आता रे।
कितने सावन के तम में वह, वारिद–रथ चढ़ आता रे।
दुख पर परम दुःख आने पर, उसके पद उर लाता रे।
पारस–मणि सा कभी सौख्य में, मुझको सहला जाता रे।
आता है वह आता है रे, आता है वह आता रे।।

(६३)

मैंने मानी, मानी हार, मान चुका मैं अपनी हार।
जितना तुझे हटाता आया, उतना मुझ पर हुआ प्रहार।।
तुम्हें छिपाने को यदि कोई, मेरे चित्त–गगन आता।
तो देखा है बार–बार यह, मुझसे सहा नहीं जाता।।
जीवन का अतीत चलता है, पीछे लग छाया–अनुमान।
व्यर्थ बुलाता रहता गाकर, कितने मोहक वंशी–तान।।
अब न मेल रखता उससे मैं, तुमने लिया मुझे जो धार।
सब कुछ लेकर इस जीवन का, आया हूँ मैं तेरे द्वार।।

अनु० 'भव्य'

(६४)

एक–एक करके खोलो ये,अपने सभी पुराने तार।
बाँधो नूतन–नूतन जिससे, नूतन स्वर दे जीर्ण सितार।।
हुआ समाप्त दिवस का मेला, सभा लगेगी सायंकाल।
समय हुआ उसके आने का, जब कि बजे अन्तिम सुर ताल।।
अपना द्वार खोल दो हे अब,हुआ गगन में तम–विस्तार।
सप्त लोक की नीरवता का, हो अब तेरे सदन प्रसार।।
इतने दिन जो गाये गान,
उनका होवे अब अवसान,
भूल चलो यह बात कि है यह, यन्त्र तुम्हारा, तव अधिकार।
बाँधो नूतन नूतन जिससे, दे नूतन स्वर जीर्ण सितार।।

(६५)

सोच रहा कब बाहर आया, तेरा ही गायन करता।
किन्तु आज की बात नहीं यह, नहीं आज की बात नहीं।
आया हूँ मैं तुम्हें चाहता, कब से यह कुछ ज्ञात नहीं।
निकट समय की बात नहीं यह, निकट समय की बात नहीं।।
जैसे झरना बाहर झरता,
किसे चाहता जान न पड़ता,
वैसे ही जीवन–धारा में, आया मैं बहता बहता।
निकट समय की बात नहीं यह, निकट समय की बात नही।।
लेकर कितने नाम पुकारे,
कितने–कितने चित्र उतारे,
मिला न उसका ठौर ठिकाना, आया किस सुख में रमता।
निकट समय की बात नहीं यह, निकट समय की बात नहीं।।
रहता सुमन प्रभा–याचन–रत,
जगे, करे निशि शेष अनवगत,

उसी भाँति तव मिलनाशा से, हृदय सदा पूरित रहता।
निकट समय की बात नहीं यह, निकट समय की बात नहीं।।

(६६)

प्रेम वहन कर सकूँ तुम्हारा, ऐसी शक्ति न है मुझमें।
मेरे अपने बीच तभी तो, रखते हो अन्तर जग में।।
करुणा करके नाथ तुम्हीं ने, रक्खे हैं कितने व्यवधान।
सुख के दुख के विपुल आवरण, और आवरण धन–जन–मान।।
इन आवरणों के पीछे तुम, क्षण–क्षण होते हो द्युतिमान।
श्याम जलद के अन्तराल में, रवि, की मंजुल रश्मि–समान।।
प्रेम तुम्हारा वहन कर सके, ऐसी शक्ति जिसे देते।
उसके सारे आवरणों को, एक झोंक में हर लेते।।
उसे न रखते ओट सदन का, उसके पास न धन रखते।
पथ पर लाकर सब हर उसको, परम अकिंचन हो करते।।
इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से, सम्मुख तेरे आ जाता।
अपने प्राणों की प्रपूर्ति वह, मात्र तुम्हीं में है पाता।।
जिसको ऐसी दया प्राप्त है, उसका लोभ अपरिमित है।
सभी लोभ तज कर वह करता, निज में तुम्हें प्रतिष्ठित है।।

(६७)

हे सुन्दर ! प्रातः काल आज आये थे तुम।
अरुणिम पारिजात कर में ले आये थे तुम।।
थी सब पुरी सुषुप्त, न थे तब यात्री पथ में।
चले गये एकाकी तुम, निज स्वर्णिम रथ में।।
एक बार रुक कर लक्षित कर मम वातायन।
दृष्टि लगायी थी तुमने, जो थी करुणायन।।
किस सुगन्ध से मेरे स्वप्न हुये थे पूरित।
था आनन्द कौन–सा, करता गृह–तम दूरित।।

अनु० 'भव्य'

मेरी नीरव वीणा जो थी रज में निपतित।
किस आघात अनाहत से, थी हो गयी स्वनित।।
कितनी बार विचारा, उठ जाऊँ, उठ जाऊँ।
तज आलस्य पंथ पर, बाहर दौड़ लगाऊँ।।
जब उठ कर देखूँ तो पाऊँ, चले गये तुम।
तुमको देख न पाया, मुझको हा ! न मिले तुम।।

(६८)

तुम हो कौन ! न ज्ञात मुझे था, रहा खेलता जब तव संग।
तब न रहा भय, थी न लाज मन, जीवन के थे चंचल ढंग।।
प्रातः वेला तुमने मुझको, कितनी बार पुकारा है।
ऐसे ही जैसे वह करता, जो निज सखा हमारा है।।
हँस–हँस कर मैं साथ तुम्हारे, धूम मचाता फिरता था।
वन–वनान्त में कितना ही मैं, हो स्वच्छन्द विचरता था।।
ए हो! तब तो उस दिन तुमने, जो–जो गाने थे गाये।
ध्यान न उनके अर्थों पर हम, कुछ भी तो थे दे पाये।।
उनके सँग में प्राण मिलाकर, केवल सुर मैं भरता था।
तथा हृदय था दोलित होता, नृत्य नित्य ही करता था।।
आज खेल की घड़ी अनन्तर, है हठात् यह छवि कैसी।
स्तब्ध हुआ आकाश तथा हैं, नीरव भास्कर और शशी।।
तव चरणों की ओर दृष्टि कर, नमित बना त्रिभुवन कितना।
संभ्रम–वश हैं खड़े हुये ये, हो कितने एकान्तमना।।

(६९)

अरे ! खोल दी उसने नौका, कौन उठायेगा सब भार।
यदि है तुमको आगे जाना,
तो पीछे की सब तज आना।
लाद पीठ पर लाता है तो, छूटेगा एकल इस पार।।

अनु० 'भव्य'

घर का बोझा खींच खींच कर,
ला–ला रखता यहाँ घाट पर
भूल रहा है तुम्हें तभी तो, फिरना होता बारम्बार।।
बुला–बुला रे माझी को फिर,
रे जाने दे निज बोझा तिर,
सारा जीवन रिक्त बना कर, दे उनके चरणों पर वार।।
अरे ! खोल दी उसने नौका, कौन उठायेगा तव भार।।

(७०)

खोया–खोया–सा मन मेरा, आज मेघ–दल के अन्तर।
जान न पड़ता मुझे कहाँ वह, करता भ्रमण वेग भरकर।।
विद्युत उसके तार बीन गत।
बार–बार है करती आहत।।
कैसी महातान से उर में, होता वज्र–हनन–गर्जन।।
पुंज–पुंज अति सघन भरा,
अन्धकार नीला गहरा,
लिपट गया है मेरे तन से, गया प्राण में व्यापक बन।।
पागल पवन नृत्य–उन्मद हो,
मेरे सँग रह सहचर–पद हो,
अट्टहास कर कहाँ दौड़ता, नहीं मानता है वर्जन।
आज मेघमाला के भीतर, खोया–खोया मेरा मन।।

(७१)

ए हो मौन ! नहीं बोलोगे, नहीं करोगे बात अगर।
तो मैं तेरी नीरवता को, उर में भर लूँगा सह कर।।

स्तब्ध हुआ ही पड़ा रहूँगा, जैसे रजनी है करती।
अपलक तारा–ज्योति जलाकर, धीर विनम्र बनी रहती।।

होगा प्रभात, होना ही है, मिट जायेगा तम सारा।
गगन भेद कर तव वाणी की, बरसेगी कञ्चन–धारा।।

अनु० 'भव्य'

होगा तब मम विहँग–नीड़ में, तव भाषामय कैसा गान।
होगी मम वन–लतिका पुष्पित, फूट चलेगी जब तव तान।।

(७२)

जितनी बार जलाता दीपक, बुझ–बुझ जाता उतनी बार।
तभी तुम्हारा आसन मेरे, जीवन के घन तम मँझधार।।
मेरा जीवन एक लता है, सूख गया है जिसका मूल।
जिसमें केवल कलियाँ, आतीं, खिलता नहीं कभी भी फूल।।
इसीलिए तेरी सेवा में, दूँ निज जीवन–दुख–उपहार।।

पूजा गौरव पुण्य विभव ये, कुछ भी यहाँ नहीं लवलेश।
आया है तव दीन पुजारी, धारण क़र लज्जास्पद वेश।।
नहीं कभी कोई आता है, जब वह उत्सव करता है।
न तो कभी वंशी बजती है, और न घर ही सजता है।
रो–रो तुम्हें बुला लाया हूँ , निज मन्दिर के खण्डित द्वार।।
जितनी बार जलाता दीपक, बुझ जाता है उतनी बार।

(७३)

संभव नहीं कि तम्हें रखूँ यों, दृष्टि न पर की हो तुम पर।
इस विधि पूजा–हेतु कहाँ है, मेरे घर में पूजा–घर।।
यदि तुम मेरे रैन दिवस में,
यदि तुम मेरे अपनों सँग में,
हो दयालु निज को पकड़ा दो, तो रक्खूँगा तुमको धर।
ऐसा मानी नहीं कि तुमको, दे पाऊँ मैं समुचित मान।
मेरे स्वामी! तव पूजन को, जुटा न पाऊँगा सामान।।
यदि तुमसे है प्रेम हमारा,
स्वतः बीन देगी स्वर–धारा।
सुमन आप ही विकसित होकर, देंगे सारा कानन भर।

अनु० 'भव्य'

(७४)

वज्र मध्य तव वेणु बज रहा, वह है क्या साधारण गान।
उन्हीं सुरों को सुनकर जागूँ, करो मुझे वह श्रवण प्रदान।
फिर तो सहज न भूल सकूँगा,
प्राण वहीं भर मत्त बनूँगा,
वही प्राण जो आवृत रहता, मरण मध्य विरहितअवसान।
कर दो झंझा सहज सह्य हो, उर–वीणा के तारों से।
सप्त सिन्धु सँग दशों दिशाएँ, नाच उठें झंकारों से ।।
लो मुझको विश्राम–विरत कर,
उसी गहन सुस्थिति में लो धर,
जहाँ अशान्ति मध्य रहती है, शान्ति शोभना परम महान।।

(७५)

करके दया बना देना हे, स्वच्छ विमल मेरा जीवन।
इसके बिना न छू पाऊँगा, प्रभो! तुम्हारे पुण्य चरण।।
जब पूजा की डाली तुमको, अर्पित करने चलूँ तभी।
जा मिलते हैं निकल उसी में, यावत मेरे कलुष सभी।।
कारण यही कि तव चरणों में, कर न सकूँ निज प्राणार्पण।।

इतने दिन तक व्यथा न मुझको, किसी भाँति की कभी हुई।
सारे अंगों में मेरे थी, महा मलिनता भरी हुई।।
आज उसी निर्मल गोदी हित, व्याकुल उर करता क्रन्दन।
मुझे न देना, मत देना हे, फिर से हे! रज–शय्यासन।।

(७६)

सभा भंग जब होगी तब क्या, गान अन्त का गा पाऊँगा।
संभव है तब थकित कण्ठ मैं, तव मुख लखता रह जाऊँगा।।
हैं सुर अब भी जो लगे नहीं,
क्या होंगे आगे ध्वनित कहीं?
प्रेम–व्यथा को स्वर्ण तान दे, क्या मैं गायन कर पाऊँगा।
अनु० 'भव्य'

रैन दिवस इतने दिन तक जो, सुर साधा, मैंने अपने मन।
अहो भाग्य यदि सकल साधना, हो जाये पूर्ण इसी जीवन।।
सारी वाणी इस जीवन की,
पद्म–राशि है मानस–वन की,
अन्त विश्व–गायन–धारा में, जलनिधि की ओर बहा दूँगा।।

(७७)

चिर जन्मों की अहो वेदना,
चिर जन्मों की अहो साधना।
हो जावे हे तव अग्नि ज्वलित,
अबल समझकर होवे न द्रवित,
चाहूँ–ताप सहूँ हों जो भी, होवे नष्ट समस्त वासना।
दो वह टेर अमोघ रहे जो, व्यर्थ लगाते हो क्यों देर।
बन्धन जो हैं जकड़े छाती टूटें, पीछे गिर हों ढेर।।
शंख तुम्हारा गरज–गरज कर,
अबकी बाज उठे उच्च–स्वर।
गर्व चूर्ण हो निद्रा टूटे, खर जाग्रत हो जाय चेतना।

(७८)

जब मुझको कहते हो गाओ, हृदय गर्व से भर आता।
युग दृग होते छल–छल अपलक, तव मुख लखता रह जाता।।
गान–सुधा पीकर उर के कटु, कठिन भाव गलने लगते।
तब मम सकल साधनाराधन, खग–सम हैं उड़ने लगते।।

करता तृप्त तुम्हें मम गायन, तुमको भाता, अति भाता।
जान रहा हूँ इसी सहारे, तव सम्मुख आसन पाता।।

कर पाता सन्धान न जिसका, कितना भी मन प्रेरित कर।
वही चरण मैं छू लेता हूँ, गायन पर होकर निर्भर ।।

अनु० 'भव्य'

स्वर का यों आवेश उभरता, भूल स्वयं को जाता हूँ।
और तुम्हें जो प्रभु हो मेरे, कह कर बन्धु बुलाता हूँ।।

(७६)

करो कि मेरा प्रेम सभी प्रभु, तेरी ओर प्रवाहित हो।
तेरी दिशि में, तेरी दिशि में, तेरी दिशि में प्रस्थित हो।।
करो कि मेरी घन आशाएं, तव श्रुति में जा सुस्थित हों।
तेरी श्रुति में, प्रभु तव श्रुति में,तव श्रुति मध्य अवस्थित हों।।

करो कि मेरा चित्त प्रभो यह, जहाँ कहीं जब भी ले स्थान।
प्रत्युत्तर दे सके तुम्हें यह, सुन करके तेरा आह्वान।।
करो कि टूटें बन्धन मेरे, सारे कर्मों के प्रभुवर।
तव आकर्षण, तव आकर्षण, प्रभु आकर्षण तव पाकर।।

करो कि मेरी यह थाली प्रभु, बाह्य–भैक्ष्य से जो पूरित।
हो जाये इस बार रिक्त प्रभु, रहे न कुछ भी अवशेषित।
अन्तरतम मेरा भर जाये, चुपके से करके आधान।
दान प्रभो तव, दान प्रभो तव, पाकर प्रभुवर तेरा दान।।
हे मम बन्धु! अहो अन्तरतर,
जो कुछ इस जीवन में सुन्दर।
आज स्वरों में ध्वनित हो उठे, सब तव गीतों को लेकर।
तव गीतो को, तव गीतों को, प्रभु तव गीतो को लेकर।।

(८०)

दिन में वे मेरे घर आये, बोले "क्षण बैठेंगे पास"।
तथा, देव–पूजा में हम सब, कर देंगे कुछ तुम्हें सुपास।।
पूजा हो जाने के पीछे, जो कुछ भी हम पायेंगे।
अपना वही प्रसाद समझकर, और नहीं कुछ चाहेंगे।।

अनु० 'भव्य'

मलिन वेश में क्षीण अकिंचन, वे सारे कह कर ऐसे।
कर संकोच एककोने में, पड़े रहे जैसे–तैसे।।
पर देखा–हो प्रबल निशा में ,मेरे मन्दिर में घुस कर।
करने लगे हरण पूजा बलि, मलिन करों में लेकर भर।।

(८१)

वे आकर महसूल वसूलें, पथ में लेकर तेरा नाम।
अन्त घाट जब पहुँचूँ देखूँ, पार उतरने को न छदाम।।
वे तेरे ही काज–व्याज से, करते हा ! विनष्ट धन प्राण।
मेरा वह भी वे हर लेते, रहता जिसे स्वल्प कर मान।।
छद्म वेशधारी उस दल को, मैने लिया आज पहचान।
हाय ! उन्होंने भी चीन्हा है, मुझको शक्ति–हीन ही जान।।
गुप्त वेश तज दिये तभी तो, लज्जा भय न उन्हें किंचित।
शीश उठा कर आज तने हैं, करके मेरा पथ बाधित।।

(८२)

चन्द्र–ज्योति मण्डित इस निशि में , जाग रहे हैं मेरे प्राण।
तेरे निकट कहीं क्या मुझको, मिल पायेगा किंचित स्थान।
क्या उस अद्भुत मुख का दर्शन कर पाऊँगा,
उत्सुक, उर क्या अपलक लखता रह जाऊँगा।
बार बार तव चरण घेर क्या, साश्रु चलेगा मेरा गान।।
धरता आज न मैं साहस कर,
उठा स्वयं को तव चरणों पर,
माटी में मुख डाल पड़ा हूँ ,लौटा दो न कहीं मम दान।।
आप स्वयं यदि पास पहुँच कर,
"उठ जाओ"–यह कह दो कर धर,
तो असीम दारिद्र्य प्राण का पायेगा तत्क्षण अवसान।।

अनु० 'भव्य'

(८३)

तय थी बात कि हम तुम दो ही, एक नाव में निकलेंगे।
होगा कुछ उद्देश्य न अपना, उसको बस तिरने देंगे।
त्रिभुवन में भी नहीं किसी को, होगा ज्ञात कि तीर्थ चले।
कहाँ कौन—सा देश देखने, हम तुम दोनों हैं निकले।
तुम्हें सुनाऊँगा एकाकी, उस अकूल जलनिधि में गान।
भाषा—बन्धन—रहित लहर—सम, राग सुनो चुप भर मुस्कान।।

उसका क्षण न हुआ क्या अब भी, क्या कुछ शेष रहा करना।
अरे ! हो रहा है सन्ध्या का, सागर—तट पर पग धरना।
क्षीण प्रभा में पंख खोल कर, जलधि पार के सब खग गण।
अपने—अपने नीड़ों को हैं, लौट पड़े वे सन्ध्या—क्षण।
आओगे कब यहाँ घाट पर, देने मुझे बन्ध—निस्तार।
अस्तोन्मुख रवि—प्रभा—सदृश तरि, करे अलक्ष्य निशीथ—विहार।।

(८४)

कब अपने एकाकी घर के, सारे व्यवधानों को तोड़।
बैठ प्राण—रथ निकल पड़ूँगा, बृहत विश्व में सब कुछ छोड़।।
प्रबल प्रेम से सब कर्मों में, सब के संग फिरूँगा।
दौड़ इसी विधि, हाट—बाट में, तुमसे वहाँ मिलूँगा।।

सब आशा आकांक्षा संयुत, सुख—दुख में जा कूदूँगा।।
और तरंगों में पड़ उनके, घात वक्ष पर सह लूँगा।।
भले—बुरे की चोटें सहकर, तव उर पा चेतन हूँगा।
विश्वव्याप्त कलरव में तब तव, वाणी श्रवण करूँगा मैं।।
बैठ प्राण के रथ में किसके, बाहर भ्रमण करूँगा मैं।।

(८५)

एकाकी ही कोने—कोने में निज मन के।
अब न और भटकूँगा, मैं मोह—मत्त बन के।।
तुम्हें अकेला जान चलूँ , भुज—बन्धन देने।

अनु० 'भव्य'

छोटा सीमित मान चलूँ, घेरे में लेने।।
तो पाता हूँ यही कि मैं केवल अपने को ।
बाँध रहा हूँ ,बन्धन तुम्हें न है पड़ने को।।

जब मैं तुमको देख सकूँगा सबके भीतर।
तो तत्क्षण पाऊँगा उर में हो परमेश्वर।।
मेरा चित्त वृन्त केवल है,
उस के ऊपर विश्व कमल है,
पूर्ण प्रकाश मुझे दिखला दो, जो पड़ता उसके ऊपर।।

(८६)

जगा दिया यदि आज मुझे तो, लौटो लौटो नाथ नहीं।
करुणा करके कर दो मुझ पर, करुणामय दृगपात यहीं।।
निविड़ विपिन में तरु–शाखा पर, हैं आषाढ़–मेघ झरते।
बादल–पूरित निशा सो रही, आलस्यास्वादन करते।।

है आघात तड़ित का अविरल, हुये प्राण मम निद्राहीन।
चाह रहे वर्षान्धारा सँग, हो जायें गायन में लीन।।
मेरा हृदय अश्रु जल में बह, तम में जा है निकल पड़ा।
गगनान्तर में खोज रहा है, अपने दोनों हाथ बढ़ा।।

(८७)

मुझे तोड़ कर ले लेना हे, इसमें हो न विलम्ब घटित।
मुझको भय है कहीं न झरकर, रज में हो जाऊँ निपतित।
यह प्रसून तव स्रज में पोहित,
होगा कि नहीं, कुछ कहाँ विदित,
कुछ हो तुमने तोड़ पीर दी, इस सुभाग का सर्जन हो।
छिन्न करो हे, छिन्न करो हे, इसमें और विलम्ब न हो।।
जाने कब दिन सहसा बीते, फिर तो तम घिर जायेगा।

और तुम्हारी पूजा का क्षण, बीत अलक्षित जायेगा।।
जो कुछ रंग अभी है इसमें,
गन्ध–सुधा जो इसके उर में,
अपनी सेवा में सब ले लो, जब तक शुभ क्षण विगत न हो।
छिन्न करो हे! छिन्न करो हे! इसमें और विलम्ब न हो।।

(८८)

केवल तुम्हें चाहता हूँ मैं, चाह मुझे केवल तेरी।
करो कि मन से सकूँ नित्य कह, चाह तुम्हीं हो बस मेरी।।
अन्य सभी जो इच्छाएं,
मुझे अहर्निशि भटकाएं,
वे सब मिथ्या हैं, मिथ्या हैं, चाह तुम्हीं हो बस मेरी।।
जैसे निशा प्रभा पाने की, विनती गोपन है रखती।
वैसे गहन मोह में मेरी, चाह तुम्हारे प्रति रहती।।
ज्यों झंझा दे घात शान्ति को,
तदपि रखे हृदयेष्ट शान्ति को,
त्यों ही तुम्हें घात देकर भी, मानूँ तुम्हीं चाह मेरी।।

(८९)

भीरु नहीं यह प्रेम हमारा, और न है यह विरहित–बल।
क्या रह कर यह केवल व्याकुल, मात्र गिरायेगा दृग–जल।।
मन्द मधुर सुख शोभा सज्जित,
हो क्यों प्रेम सुषुप्ति–निमज्जित,
चाह रहा वह जगे संग तव, पा आनन्द बने पागल।।
नाचो जब तुम विषम वेश धर,
तीव्र ताल सँग थाप प्रखर,
तो यह त्रास और लज्जा वश, भाग चले सन्देह–विकल।

अनु० 'भव्य'

उसको ही जो रौद्र मनोहर,
चाहूँ ले मम प्रेम वरण कर,
आशाओं के क्षुद्र स्वर्ग को, तज दे वह फेंक रसातल।।

(६०)

सह लेंगे आघात और भी, यों हैं मेरे जीवन–तार।
और अधिक सह लेंगे, कर दो, उनमें और तीव्र झंकार।।
राग जगाते हो जो तुम मेरे प्राणों में
है मुखरित हो पाता वह न चरम तानों में
निठुर मूर्च्छना से हे गायक, कर दो अन्तिम सुर–संचार।।
जिससे यह न लगे, है केवल, कोमल करुणा गायन में।
कर दो व्यर्थ न जीवन यह बस, मृदु स्वर–क्रीड़ा–साधन में।।
पावक सब हो उठे प्रज्वलित,
हो उठें मरुत सब घोर स्वनित,
जग जाये आकाश समूचा, करो पूर्णता का विस्तार।।

(६१)

निठुर, किया यह तुमने अच्छा, यह तो तुमने किया भला।
ऐसा करके मेरे उर में, दी है–अग्नि प्रचण्ड जला।।
यदि यह मेरी धूप न जलती,
रंच न इससे गन्ध निकलती,
मेरा दीप प्रकाश न दे कुछ, यदि न जलायें पावक ला।।
जब कि चेतनाहीन बना यह, चित्त हमारा रह जाता।
तब इन आघातों से तेरा, स्पर्श–पारितोषिक पाता।।
लाज–मोह के अन्धकार में,
तव दर्शन हो पाता न हमें,
मेरी सकल कालिमा मेटो, अपना पावक–वज्र चला।।

अनु० 'भव्य'

(६२)

तुमसे दूर खड़ा रहता हूँ, तुम्हें देवता केवल जान।
तुम्हें नहीं वह आदर देता, तुमको अपना ही मैं मान।।
पिता मान कर तव चरणों में, करता तुमको मात्र प्रणाम।
बन्धु मानकर कहाँ दिया है, तुमको हस्तमिलाप ललाम।।
सहज प्रेम में तुम आते हो, मेरे बन कर उतर जहाँ।
वरूँ न तुमको निज संगी कह, लगा हृदय से समुद वहाँ।।

प्रभो, भाइयों–बीच जानता, तुम्हीं बने हो मेरे भाई।
तब भी उनकी ओर न मैंने, किंचित अपनी दृष्टि उठाई।।
सभी भाइयों में जब धन है बाँटा जाता।
तो तेरा भी भाग न क्यों, उस समय लगाता।।
सबके सुख से दुख से, नित्य अलग रहता हूँ।
अतः न तव सम्मुख मैं, निज को पा सकता हूँ।।
क्लान्ति हीन कर्मों में, अपने प्राण लगाता।
तुझमें न प्राण–सागर यों, डूब लगा पाता।।

(६३)

कार्य कर रहे हो जो उसमें, क्या न लगाओगे मुझको।
कार्य–दिवस में अपने हाथों, क्या न जगाओगे मुझको।।
भले–मन्द उत्थान–पतन में,
विश्व–भवन में, नाश–सृजन में,
पास तुम्हारे खड़ा रहूँ तो, हो जाऊँ परिचित तुमको।
सोचा था उस विजन छाँह में, आना –जाना हो न जहाँ।
सन्ध्या–वेला मेरी तुमसे, हो जाये पहचान वहाँ।।
तम में जो एकान्त मिलन है
वह ज्यों मात्र स्वप्न–दर्शन है,
जहाँ हाट तव क्रय–विक्रय की, वहीं बुला लो हे, मुझको।।

अनु० 'भव्य'

(६४)

सबके सँग जहाँ मिल कर तुम, करते रहते नित्य विहार।
वहीं तुम्हारे सँग मेरा भी, होता रहे मिलन–व्यवहार।।
न तो विपिन में न तो विजन में,
और न मेरे अपने मन में
तुम सबके निज जहाँ वहीं प्रिय, लूँ निजत्व मैं तुमसे धार।
वहीं तुम्हारे सँग मेरा भी, होता रहे मिलन व्यवहार।।

जहाँ रहा करते हो अपने, हाथ सभी की ओर उभार।
वहीं प्रेम मेरा भी जाग्रत, होगा, रखता यही विचार।।
प्रेम न छिपकर घर में रहता,
ज्योति–सदृश वह फूट निकलता,
सबके आनँदघन मुझमें भी, दो आनन्द वही संचार।
वहीं तुम्हारे संग मेरा भी, होगा नित्य मिलन व्यवहार।।

(६५)

मुझे बुलाओ, मुझे बुलाओ, घन तम में मुझे बुलाओ।
अपने स्निग्ध सुशीतल पावन, घन तम में मुझे बुलाओ।।
तुच्छ दिनों की क्लान्ति–ग्लानि हैं, रजन्धूसर करतीं जीवन।
मन वाणी के दोष सहस्रों, उपजाती रहतीं क्षण–क्षण।।
मुक्त करो हे, मुक्त करो हे, मुझको मुक्त करो।
निज उदार नीरव अनन्त घन, तम से मुक्त करो।
नीरव निशि में वाणी चुप हो, बाहर ही हो बाह्य प्रसार।
प्रकट करो मम अन्तरतम को, जिसका है अखण्ड आकार।।

(६६)

है जहाँ हो रही लूट तुम्हारी बीच भुवन।
वहाँ पहुँच पायेगा कैसे, यह मेरा मन।।

अनु० 'भव्य'

कांचन घट से दिनकर तारा,
विकिरित करते ज्योतिर्धारा,
है अनन्त बिखरे प्राणों से, भर गया गगन।
कैसे पायेगा पहुँच वहाँ, यह मेरा मन।।

जहाँ विराज रहे हो, ले दाता का आसन।
कैसे पायेगा पहुँच वहाँ यह मेरा मन।।
जहाँ नवल रस में नित ढल कर,
रहे स्वयं को यों वितरित कर,
क्या न वहाँ से जीवन, पायेगा आमंत्रण।
कैसे पायेगा पहुँच वहाँ, यह मेरा मन।।

(६७)

विकसित करते हो सुमनों सा, तुम्हीं स्वयं ये मेरे गान।
मेरे नाथ, यही तो मुझको, मिला हुआ है तुमसे दान।।
देंख–देख, उन सुमनों को मैं , सुख–तरंग में बह जाता।
अपना कह कर भेंट रूप में, उन्हें तुम्हें देने आता।।
हँस कर स्नेह सहित तुम अपने, हाथ बढ़ाकर लेते हो।
करके दया मान मेरा यों, प्रभो, बचा तुम लेते हो।।

यदि तदनन्तर हो जाने पर, पूजा–वेला का अवसान।
झर कर धरती की मिट्टी में, मिल भी जायें मेरे गान।।
तो भी क्षति कुछ नहीं कहीं है, जब कि तुम्हारा प्रभु, कर –तल।
सदा लुटाता अमित संपदा, झरती भी है वह प्रति पल।।
मेरे जीवन में खिलते वे, अधिक नहीं बस लघु क्षण भर।
पर मम प्राणों की सार्थकता, वे जाते हैं शाश्वत कर।।

अनु० 'भव्य'

(६८)

पूर्ण करो यह चाह प्राण की, किये रहूँ मुख तेरी ओर।
पड़ा रहूँ बस, पड़ा रहूँ बस, अपलक लखता तेरी ओर।।
दिन के सब कार्य कलापों में,
सकल व्यथा सब इच्छाओं में,
इतना कर दो यह मन मेरा, लगा रहे बस तेरी ओर।।
नाना दिशि में नाना चाहें, करती हैं भर वेग भ्रमण।
मात्र एक ही चाह प्राण में, उसे पूर्ण कर दो भगवन्।।
जिससे निशि में रहूँ जागता, उसी एक की पीड़ा भर।
दिन के दिन सुख–गान एक ले, एक सूत्र में हों बँध कर।।

(६६)

आच्छादित कर नभ–मण्डल को, है आषाढ़ पुनः आया।
वर्षा से उत्पन्न मनोहर, सौरभ मारुत है लाया।।
आज हमारा हृदय पुरातन,
कर नव मेघ–सघनता–दर्शन,
है पुलकों से कितना स्पन्दित, फिर से मुखरित हो आया।
आच्छादित कर नभ–मण्डल को, है आषाढ़ पुनः आया।
विस्तृत मैदानों में नव तृण–दल पर,
वारिद–छाया पड़ती है रह–रह कर,
''आया है वह आया है वह, यही बात कहते हैं प्राण।
आया है वह आया है वह,यही ध्वनित होता है गान।।
दृग में आया, उर में आया, दौड़ा हुआ चला आया।
आच्छादित कर नभ–मण्डल को, है आषाढ़ पुनः आया।।

(१००)

पावस का ही रूप दिखाई, देता है मानव में आज।
चलता वह घन गर्जन करके, चलता घोर सघनता साज।।

नाच रही है उसके उर में, भीषणभीमा।
दौड़–दौड़ कर मिटा रही वह, सारी सीमा।।

किस ताड़न–वश मेघ परस्पर, वक्ष भिड़ाते, गिरती गाज।
पावस का ही रूप दिखाई देता है मानव में आज।।
पुंज–पुंज में दल के दल ये, करते दूर सुदूर प्रयाण।
चले जा रहे कौन लक्ष्य ले, इन्हें न इसका कुछ भी भान।।

कुछ न जानते हैं ये किस महाद्रि तल में जाकर।
गल जल–सा झर जायेंगे,सावन के घन पाकर।।

और न जाने उनसे क्यों यह, रचित विभवमय घोर समाज।
इसमें भीषण जन्म–मरण का, भेद कौन–सा रहा विराज।।
पावस का ही रूप दिखाई, देता है मानव में आज।

जो ईशान कोण से उठ कर, आती है झंझा–वाणी।
गुरु–गुरु स्वर में क्या कहती है, करके वह कानाकानी।।

होनी यह कैसी दिखती है, दिशि विदिशान्तर में।
मूक व्यथा हो रही प्रवाहित,मौन तमान्तर में।।

असित कल्पना निविड़ तमस में, घनित हुई किस भावी काज।
पावस का ही रूप दिखाई, देता है मानव में आज।।

(१०१)

देव हमारे, अमृत कौन–सा, चाह रहे हो करना पान।
जिसके लिए भरे जाते हो, मेरा यह तन, मेरे प्राण।।

मम नयनों से निजी विश्व–छवि,
देखोगे–क्या चाह यही कवि,

मेरे मुग्ध श्रवण से चुप–चुप, सुनना चाहो क्या निज गान।
देव हमारे, अमृत कौन–सा, चाह रहे हो करना पान।
जिसके लिए भरे जाते हो, मेरा यह तन, मेरे प्राण।।

अनु० 'भव्य'

मेरे उर बस सृष्टि तुम्हारी,
गयी एक रच वाणी न्यारी,
और उसी के संग प्रीत तव,
गयी सकल कर मम गीतोद्भव।
मुझमें पाते हो मधु रस तुम, करके मुझमें निज को दान।।
देव हमारे, अमृत कौन–सा, चाह रहे हो करना पान।।
जिसके लिए भरे जाते हो, मेरा यह तन, मेरे प्राण।

(१०२)

मेरे उर में साध यही है, यही कामना है अति प्रीत।
मुखरित होवे इस जीवन में, तव आनन्द महा संगीत।।
तव नभ, ज्योति–प्रवाह उदार,
फिरे न लख कर, मम लघु द्वार,
हो इस उर में नित नव सज से, षट् ऋतु–नर्तन बाधातीत।

करें कि तव आनन्द हमारे, तन में एवं मन में,
हो न आवरण–बाधित किंचित, हो स्वच्छन्द रमण में।
जिससे मेरे परम दुःख को, तवानन्द तब लेकर,
आलोकित कर जाये उसको, पुण्य–प्रभा सम देकर।।
जिससे सकल दीनता मेरी, चूर्ण दशा को होवे प्राप्त।
तवानन्द मेरे कर्मों में, फूटे, विकसे, होवे व्याप्त।।

(१०३)

मैं अकेला चल पड़ा, जाता जहाँ अभिसार तेरा।
शान्त तम में चल रहा यह, कौन धर कर संग मेरा।।
चाहूँ अलग हो जाय यह, इस हेतु कितना कुछ किया।
पथ से अलग होकर चला, भटकाव भी कितना दिया।
लगता कभी था यह मुझे, अब त्राण विपदा से मिला।

पर देखता हूँ फिर वही, पीछे लगा मुझसे हिला।।
धरती कँपाता चल रहा, ऐसा विषम चंचल बना।
च्हता वह सब कहीं है, मात्र निज पर गर्व करना।।
वह है हमारा ही अहं, उसको न प्रभु! लज्जा कभी।
तो लाज रख कर क़ौन–सी, तव द्वार आऊँ मैं अभी।।

(१०४)

देख रहा हूँ मैं तुम लोगों की ओर।
दो सबके बीच मुझे भी कोई छोर।।
नीचे सबसे नीचे, इस रजमय धरती पर।
जहाँ न कोई शुल्क लगे, आसन लेने पर।।
जहाँ विभक्त न हो कुछ भी रेखा अंकित कर।।
मान–अनादर सूचक हो ढंग न जिस स्थल पर।।
रहता जहाँ न परदा कुछ बाहर का।
जहाँ अनावृत परिचय हो निज पर का।
होता जहाँ न कुछ भी निज कहने को।
जहाँ सत्य हो आत्म–विवृत करने को।
वहीं दैन्य मेरा हो जाये सुस्थित।
होकर लज्जा से वह सम्यक् विरहित।।
भर लूँगा उसका परम दान सिरमौर।
दो सबके बीच मुझे भी कोई ठौर।।

(१०५)

अपने ही सिर निज को, वहन न और करूँगा।
अब न और अपने घर, बन कंगाल रहूँगा।।
भार डाल कर तेरे पद पर,
निकल पडूँगा अनपेक्षा भर,
इसकी खबर न लूँगा, चर्चा भी न करूँगा।।
अपने ही सिर निज को, वहन न और करूँगा।।

अनु० 'भव्य'

यह वासना हमारी, जिसको भी छू लेती।
निमिष न लगता उसका आलोक बुझा देती।।
मलिन करों से यह जो लाये,
अब न मुझे वह लेना भाये,
तेरा प्रेम न जिसमें, उसे न और सहूँगा।
अपने ही सिर निज को, वहन न और करूँगा।।

(१०६)

रे मम चित्त, पवित्र तीर्थ में, जाग्रत हो जा धीरे।
इस भारत के महज्जनों के, महा जलधि के तीरे।।
यहाँ खड़े युग बाहु बढ़ा कर, नर देवों को नमता हूँ।
परमानन्दित महा छन्द से, वन्दन उनका करता हूँ।।
हैं गम्भीर ध्यानरत भूधर, सरि जयमाल कलित प्रान्तर।
सभी यहाँ है, दृष्टि रखो नत, इस पुण्यस्थल धरती पर।।
ज्ञात न किसके आवाहन पर, कितनी मानव–धारायें।
मुक्त स्रोत–सी जलधिलीन हैं, कहाँ कहाँ से ये आयें।।
यहाँ आर्य हैं औ' अनार्य हैं, और यहाँ हैं द्राविड़ चीन।
शक हैं हूँण, पठान, मुगल हैं, सकल एक तन में हैं लीन।।
द्वार आज पश्चिम ने खोला, लाये सब उपहार यहाँ।
देंगे यहाँ और लेंगे भी, मिल कर, लौटेंगे न वहाँ।।
जो आये रण–रक्त बहाते, विजय–गान उन्मद गाते।
जो आये गिरि पर्वत–पथ से, मरु–पथ को भी अपनाते।
सबके सब हैं, मिले मुझी में, दूर नहीं कोई भाई।
मेरे–शोणित में अद्भुत स्वर, है उनका सुन लो भाई।।

बाजो, बाजो रुद्रबीन, अब तो बज जाओ।
घृणा किये जो दूर खड़े, निकट उन्हें लाओ।।
बन्ध कटेंगे निज होंगे घेरे वे भी रे।
इस भारत के महज्जनों के सागर तीरे।।

अनु० 'भव्य'

यहीं महा ओंकार ध्वनित हो, एक दिवस गूँजा अविरल।
सकल लोक के हृदय–तंत्र में ऐक्य–भाव का मंत्र प्रबल।।
और तपोबल से बहुतों ने, ऐक्य–अनल में हवन किया।
भेद मिटा कर जगा सभी को, था विराट उर सृजन किया।।
उसी साधना आराधन का, तथा यज्ञशाला का द्वार।
आज खुला है यहाँ बनो सब, नतशित होकर एकाकार।।

आज उसी होमानल में लख, जलती दुख की लाल शिखा।
ताप मर्म में सहना होगा, भोग यही है भाल लिखा।।
सहन करो मेरे मन दुख यह, सुनो यही है ऐक्य–पुकार।
मेटो लज्जा, भय, बाधाएँ, लो सबके सम्मान सुधार।।
दुस्सह व्यथा मिटा जन्मेगा, कैसा अद्‌भुत प्राण विशाल।
बीती निशा जगी है जननी, विपुल नीड़ में प्रातः काल।।

आओ आर्य अनार्य सभी जन, आओ हिन्दू, मुस्लिम आओ।
आओ, आओ आंग्ल आज तुम, और क्रिश्चियन आओ,आओ।।
आओ ब्राह्मण, कर मन शुचि सब, सभी जनों के कर अब धर लो।
आओ हे सब पतित लोग भी, असम्मान सब मार्जित कर लो।।
माँ के इस अभिषेक पर्व पर, आओ आओ सत्वर आओ।
तीर्थ नीर सब छू पावन कर, रिक्त सुमंगल–घट भर जाओ।।

(१०७)

जो सर्वाधम दीन निम्नतम, जो सबसे पिछड़े हारे।
विद्यमान हैं मध्य उन्हीं के, प्रभुवर हे! चरण तुम्हारे।।
करूँ तुम्हें जब नमन निवेदित, बीच कहीं वह रुक जाता।
तव पद हैं अपमानित जन ढिग, उन तक वह न पहुँच पाता।
मेरा नमन न झुके वहाँ तक, जहाँ कि ऐसे जन सारे।।
जो सर्वाधिक दीन निम्नतम, जो सबसे पिछड़े हारे।।

अनु० 'भव्य'

अहंकार की पहुँच नहीं है, वहाँ जहाँ तव विचरण है।
दीन दरिद्रों की सज में हो, तन पर एक न भूषण है।।
रहते हो तुम उन लोगों में, रहते जो सबसे नीचे।
जो सारा ही हार चुके हैं, रहते जो सबसे पीछे।।
पर मैं जहाँ धनी–मानी जन, वहाँ तुम्हें खोजा करता।
मिल जाओगे मुझे वहीं तुम, ऐसी था आशा रखता।।
पर तुम संगी, बने हुये हो, जा संगीहीनों के घर।
मेरा हृदय वहाँ तक प्रभुवर, सकता किसी तरह न उतर।।
सबसे नीचे सबसे पीछे, सब कुछ हारे जन–भीतर।।

(१०८)

हे मम दुर्भग देश, किया है, तूने जिन सबका अपमान।
होना ही होगा अपमानित,तुमको उनके तुल्य निदान।।
तुमने जिन्हें मनुज–अधिकार,
दिये न कर वंचन–व्यवहार,
सम्मुख खड़े–खड़े रख कर भी, दिया न जिनको अंकस्थान।
होना ही होगा अपमानित, तुमको उनके तुल्य निदान।।

मानव–संस्पर्शों से प्रति दिन, जिन्हें दूर रखता आया।
मानव–प्राणों के स्वामी की, अवहेला करता आया।।
अब विधना के रुद्र–रोष से डर,
दुर्भिक्ष–द्वार पर बैठा रहकर,
बाँट–बाँट कर सबके सँग में,करना होगा भोजन–पान।
होना ही होगा अपमानित, तुमको उनके–तुल्य निदान।।
अपने आसन पर से तुमने, ठेल दिया है उन्हें जहाँ।
अवहेला कर निज बल को ही, निर्वासित है किया वहाँ।।

अनु० 'भव्य'

वे तव चरणों में दलित हुये,
जा वे अवनी पर पतित हुये,
नीचे अतः उतर आजा रे, है न अन्यथा तेरा त्राण।
अपमानित होना ही होगा, तुमको उनके तुल्य निदान।।
जिनको सदा रखा अज्ञान।
बाधित जिनकी प्रगति निदान।
तेरा मंगल आवृत कर वे, हैं रच चुके घोर व्यवधान।
होना ही होगा अपमानित, तुमको उनके तुल्य निदान।।
शत–शत सदियों से धारे हैं, नत शिर वे अवहेला–भार।
तब भी उन्हें न क्यों नमते हो, जो नर नारायण साकार।।
तब भी नीचे अवलोकन कर,
जाता तुममें बोध न यह भर,
मिट्टी में जा उतर पड़े हैं, दीन पतित जन के भगवान।
होना ही होगा अपमानित, तुमको उनके तुल्य निदान।।

तुम्हें नहीं क्या दीख रहा है, आ यमदूत खड़ा तव द्वार।
शाप–रेख है खींची उसने, देख जाति–गत अहं–विकार।।
उनको यदि अब भी न बुलाये,
उनसे दूरी रखते आये,
तो मर चिता–भस्म ही होगे, सबके सब जन एक समान।
होना ही होगा अपमानित, तुमको उनके तुल्य निदान।।

(१०६)

छोड़ न रे, रह कसकर पकडे, होगी निश्चय तेरी जय।
लगता है तम दूर हो रहा, अरे, न है अब कोई भय।।

देख, देख, प्राची दिशि भाल,
सघन विपिन का अन्तराल,
वहाँ हो रहा है शुक्रोदय, अरे न है अब कोई भय।।
लो यह जान कि वे हैं निशिचर,
जिन्हें न है विश्वास स्वयं पर,
तम आलस्य निराशा संशय।
इनका न प्रात से हैं संश्रय।।
दौड़–दौड़ अब आ जा बाहर,
देख–देख तो आँख उठा कर,
गगन हो रहा है ज्योतिर्मय, अरे ! न है अब कोई भय।।

(११०)

आज हमारा हृदय भरा है, अब जो चाहो वही करो।
अन्तर में यदि यों रहना है, तो मेरा सब बाह्य हरो।।
सब तृष्णा का अवसान जहाँ,
परितृप्त करो यदि प्राण वहाँ,
तो क्या चिन्ता मरुपथ में खर, आतप कितना क्यों न भरो।
आज हमारा हृदय भरा है, अब जो चाहो वही करो।।

खेल रहे हो कितने छल से, ऐसा खेल मुझे प्रिय है।
विपुल रुदन है एक ओर तो, अन्य ओर हास्योदय है।।
लगता जब कि सभी खो डाला,
तो पाता जब देखा भाला,
करते हो जब दूर अंक से, तो फिर देखूँ अंक भरो।
आज हमारा हृदय भरा है, अब जो चाहो वही करो।।

अनु० 'भव्य'

(१११)

अन्तर्यामी ! ज्ञात तुम्हें तव, नाम न लूँ हो गर्वित प्राण।
मेरे मुख में पायेगा भी, क्या शोभा तव नाम महान।
जब उपहास सभी करते तब, सोचूँ यह अपने मन में।
होता तेरा नाम न झंकृत, मेरे कण्ठोच्चारण में।।

तुमसे हूँ अति दूर मुझे यह, नहीं जानना हो अवशेष।
जिससे दे न पड़ूँ निज परिचय, छल कर नमन—गान के वेश।
सोच—सोच इस भय को कैसी, गति है मेरी हो जाती।।
मन ही मन मर जाता जैसे, ऐसी है लज्जा आती।

करके दया बचा लो मुझको, अहमिति के मिथ्यापन से।
रख दो मुझको उसी जगह पर, हूँ जिस योग्य सहजपन से।।
अन्य सभी की दृष्टि बचाकर, मुझे ओट में दूर करो।
युगल नयन निज नत कर मुझ पर, निज करुणा आपूर झरो।।

मेरी पूजा करुणा तुमसे, पाये इस हित करो विधान।
भले कहीं भी किसी सदन में, मिले न मिले उसे सम्मान।।
नित्य नये अपराधों में मैं, लगा धूल पर निज आसन।
तुम्हें पुकारे चलूँ नित्य ही, प्रभु दो यह मेरा माँगन।।

(११२)

कहता कौन कि तू सब छोड़ यहीं जायेगा।
अन्त समय जब मर जाने का क्षण आयेगा।।
यहाँ सँजोया है तूने जो कुछ जीवन भर।
लेना होगा तुझको वह सब, अन्तिम क्षण पर।।
है भण्डार भरा तू क्या उसमें भी आकर।
अन्त समय जा पायेगा रीता कर लेकर।

अनु० 'भव्य'

तो जो लेने योग्य यहाँ लगता हो तुझको।
समुचित है ले लेना भली भाँति उन सबको।।

त्याज्य विपुल विषयों का जो है निरवधि संग्रह।
त्राण मिले यदि चले नष्ट कर सबका सब वह।।
आया इस भू पर तो सहज यहीं सब कर ले।
मरण–पार के उत्सव हित भूप–वेश धार ले।।
सज कर यों चल तो हँसता–हँसता जायेगा।
कहता कौन कि तू सब छोड़ यहीं जायेगा।।

(११३)

यह प्रभात आषाढ़ मास का, दिखता जो सरिता के पार।
ले ले मन, ले ले रे उसको, ले अपने प्राणों में धार।।
हरित–नील कांचन मिश्रित कर, सुधा–वृष्टि जो की इसने।
और गुँजायी नभ–मण्डल में, गहरी वाणी जो इसने।।
ले रे मन, ले–ले इसको, ले–ले प्राणों में अपने।।

ऐसा करते हुये पन्थ में, भव–तट पर चलते–चलते।
चुन ले रे सब सुमनों को तू, दोनों दिशि में जो खिलते।।
जाग्रत रख चैतन्य भाव नित, उन्हें गूँथना रात–दिवस।
प्रति दिन ऐसा यत्न किये चल, निज सौभाग्य कहे अन्तस।।

(११४)

जिस दिन मरण दिनान्त समझ कर, आ पहुँचेगा तेरे द्वार।
उसे कौन–सा धन देगा तब, जान कि है समुचित उपहार।।
उसके सम्मुख ला रख दूँगा, अपने प्राणों को भर कर।
नहीं करूँगा विदा उसे यों, जाय कि रिक्त हस्त लेकर।।
कितनी शरद वसन्त निशाएँ, कितने सन्ध्या और प्रभात।
कितनी ही इस जीवन–घट में, हुई रसों की है बरसात।।
कितने ही फल–फूलों से वह, उर मेरा भरता रहता।
सुख–दुख छाया और प्रभा के, स्पर्शों को जब–जब सहता।।

अनु० 'भव्य'

जो कुछ भी संचित धन मेरा, अब तक के सब आयोजन।
सभी सजा कर अन्तिम दिन मैं, कर दूँगा उसको अर्पण।।
जिस दिन अन्तिम दिवस जान कर, आयेगा मम द्वार मरण।।

(११५)

करके दया स्वतः निज मन से, और स्वयं छोटे बन कर।
आते हो तुम आ जाते हो, मुझ से दीन–हीन के घर।।
इसीलिये माधुर्य–सुधा तव, प्यास दृगों की करती दूर।
पाता हूँ जल थल में तुमको, कितने रूपों में भर पूर।।

होकर बन्धु पिता होकर तुम, एवं जननी भी होकर।
आते हो तुम उर में मेरे, स्वेच्छा से छोटे बनकर।।
जब तुम ऐसे तो क्यों कर दूँ विश्वनाथ, तुमको लघुतर।
तुम्हें जनाऊँ क्यों जानूँ भी, अपना लघु परिचय देकर।।
आते हो तुम आ जाते हो, मुझ–से दीन–हीन के घर।।

(११६)

जीवन रहा निज मानता, परिपूर्णता तुमको चरम।
हे! बात मुझसे कुछ करो, ए हो मरण, हे! मरण मम।।
तेरे लिए ही जन्म भर, मैं जागता प्रति दिन रहूँ ।
तेरे लिए ही घूम फिर, सुख दुःख की पीड़ा सहूँ।।
मेरे मरण, मेरे मरण, तुम कुछ कहो मैं भी कहूँ।।
आशा हमारी जो रही, या जो मिला पाकर चला।
कुछ तो नहीं मैं जानता बस प्रेम तेरी दिशि ढला।।
होगा मिलन तव संग में, शुभ दृष्टि पाकर एक ही।
जीवन–वधू हूँगी तुम्हारी, अनुगता मैं नित्य ही।।
मेरे मरण, मेरे मरण, कुछ बात तो कर लो सही।।
मैंने हृदय में गूँथ कर रक्खा तुम्हें वरमाल है।

वर–वेश में चुप मुदित मुख, तव आगमन किस काल है।।
उस दिन न होगा घर निजी, कोई न निज कोई अपर।
पति संग साध्वी का मिलन, होगा विजन में रात भर।।
मेरे मरण! मेरे मरण! लो संग मेरे बात कर।।

(११७)

मैं तो राही हूँ कोई भी, रख न सकेगा मुझको रोक।
दिखते बन्धन सारे झूठे, बाँधे सुख क्या बाँधे शोक।।
बँधा न हूँगा पीछे घर से, विषय–बोझ के पाश न तब।
खींच रहे जो मुझको नीचे, टूट बिखर जायेंगे सब।।

मैं तो राही पथ चलने में, गाता गीत प्राण भर कर।
देह–दुर्ग के द्वार खुलेंगे, कर वासना–पाश जर्जर।।
भले बुरे के द्वन्द्व काट कर, हो जाऊँगा इस विधि पार।
चलता ही चलता जाऊँगा, सकल लोक में कर संचार।।

मैं तो राही मेरा होगा, अपसारित सारा ही भार।
अनचिन्ह, भाषा–रहित गान से, मुझे दूर नभ रहा पुकार।।
आकर्षित करता वह मुझको, सबमें मेरे प्राण पसार।
किसकी वंशी की ध्वनि है वह, जिसमें गहन स्वरों की धार।।

मैं तो राही निकल पड़ा, किस ओर चला कुछ ज्ञात नहीं।।
थी अवशेष निशा कितनी तब,यह भी तो कुछ ज्ञात नहीं।।
नहीं सुनाई पडता था तब, किसी ओर खग–गानोच्चार।
केवल एक दृष्टि जग कर थी, तम को अपलक रही निहार।।

मैं तो राही किस दिनान्त में, पहुँचूँगा, किस घर किस क्षण।
है प्रकाश उस थल पर किसका, गया कौन उडु दीपक बन।।
है वह सुमन कौन–सा जिसकी, सुरभि पान कर स्वनित पवन।
कौन अनादि समय से मेरा, पथ लखता है स्निग्ध–नयन।।

(११८)

जलद–पटल भेदनकारी वह, ध्वजा फहरती है नभ पर।
अरे, अरे ये तो हैं वे ही, वे ही तो पथ पर बाहर।।

अनु० 'भव्य'

दौड़ो–दौड़ो, रज्जु खींच लो, बैठे कहाँ छिपे घर में।।
किसी भाँति निज जगह बना लो, पैठ इसी जन–सागर में।।

घर में कहो कहाँ करने को , शेष रहा है कोई काज।
चलो, चलो, बस अब न चलाओ, ऐसी–वैसी बातें आज।।
पूरा तन मन देकर खींचो, खींचो, खींचो, बस खींचो।
तुच्छ प्राण की ममता तजकर, खींचो, खींचो, बस खींचो।।
खींचो तम में और प्रभा में, खींचो, खींचो, बस खींचो।
नगर ग्राम में वन पर्वत में, खींचो, खींचो, बस खींचो।।

यह जो चक्का घूम रहा है, कितनी घर्घर ध्वनि कर के।
तुम्हें सुनाई पड़ती है क्या, ऐसी ध्वनि भीतर उर के।।
स्पन्दित हैं क्या नहीं हो रहे, शोणित–गति से तेरे प्राण।
तन मन हैं क्या नहीं गा रहे, कोई यह मृत्युञ्जय गान।
क्या न तुम्हारी अभिलाषा में, अब भी प्लावन–वेग भरा।
और न क्या वह बृहद् भव्य की, ओर उमड़ती भरी त्वरा।।

(११६)

रहने दो यह सकल साधना भजन अर्चना आराधन।
क्यों पट देकर देवालय में, बैठा कोने धर आसन।।

छिप कर निज मन के कोने में, पूजन तुम किसका करते।
आँख खोल कर देखो तो सच, देव नहीं घर में रहते।।

वे तो रहते वहाँ जहाँ पर, मर–मर कृषक जोतते खेत।
वहाँ जहाँ पर पत्थर तोड़ें, राह बनायें श्रमि समवेत।।
धूप–शीत में मिल–जुल कर जो, दोनों हाथों श्रम करते।
स्वच्छ वसन तज रज–धूसर हो, उनकी भाँति न क्यों खटते।।

अनु० 'भव्य'

मुक्ति, तुम्हें बस मुक्ति चाह रे, मुक्ति कहाँ है रे नादान।
सबके सँग में सृष्टि–बन्ध में, स्वयं बँधे है रे भगवान।।
धूप दीप तज, तज फूलों को, वस्त्र फटें, रज लगने दे।
कर्मयोग रत हो प्रभु सँग मिल, तन से स्वेद निकलने दे।।

(१२०)

हे असीम, छेड़ा करते हो, निज सुर सीमित के भीतर।
इतना मधुर इसी से तो है, तव प्रकाश मेरे अन्तर।।
कितने ही वर्णों, गन्धों में,
कितने ही गीतों छन्दों में,
हे अरूप तेरे रूपों की, लीला से जगमग अन्तर।
मेरे उर में, तव शोभा यह, लगती कितनी मधु मनहर।।

मिल जाते हैं जब हम तुम तो, भेद न कोई रह पाता।
लहरों के सँग खेल–खेलकर, विश्व जलधि तव लहराता।।
प्रभा तुम्हारी बिन छाया है,
मिली उसे, मुझमें काया है,
मेरे दृग–जल से हो जाती कितनी वह अद्‌भुत सुन्दर।
तेरी शोभा कितनी सुमधुर, विलसित मेरे अभ्यन्तर।।

(१२१)

ज्ञात मुझे आनन्द तुम्हारा, मेरे ऊपर है निर्भर।
कारण मुझे यही लगता है, आये हो जो यहाँ उतर।।
मेरे बिना न त्रिभुवनपति तव, प्रेम कहीं आश्रय पाता।।
तेरे भीतर सकल प्रेम जो, मिथ्या ही वह हो जाता।।
मेरे लिए किया हैं तुमने, यह सारी मेला–रचना।
इसी हेतु मेरे उर में है, रस–क्रीड़ा –क्रम सतत बना।
मेरे जीवन में तेरी सब, इच्छाएं, खुलकर आतीं।
विविध रूप धारण करती हैं, कैसे–कैसे लहरातीं।।

अनु० 'भव्य'

इसीलिए इस हृदय हेतु तुम, हो करके भी राजेश्वर।
आते हो धर वेश मनोहर, नित्य जगे रहते प्रभुवर।।
इस कारण ही प्रभो, प्रेम तव, उतर यहाँ नीचे आया।
प्रेम तुम्हारा वही प्रेम है, भक्त–प्राण में जो छाया।।
युगल जनों के सम्मेलन को, मूर्ति तुम्हारी यों उतरी।
सदा भक्त के उर में रहती, है वह प्रेम–प्रकाश–भरी।।

(१२२)

तेरे लिए न है मानासन, और न है विश्राम–शयन।
चलें आज सब छोड़ मुदित मन, निकलें पथ पर करें भ्रमण।।
आओ बन्धु, चले सब आओ, निकलें एक साथ मिलकर।
आज चलेंगे सब उस थल पर, जहाँ निरादृत जन के घर।।

पहनें पर निन्दा के भूषण, और कण्ठ में कण्टकहार।
धर लें हम सब निज मस्तक पर, अपमानों का सारा भार।।
अन्त जहाँ हैं घर दुखियों के, वहीं डाल दें रज में भाल।
और त्याग के रिक्त पात्र को, भर लें हम आनँद रस ढाल।।

(१२३)

चलकर प्रभु–गृह से आया था, जिस दिन वीरों का वह दल।
उस दिन कहो कहाँ बैठा था, छिप कर उनका समधिक बल।।
कवच कहाँ थे, अस्त्र कहाँ थे, थे अति दीन क्षीण असहाय।
होते थे आघात चतुर्दिक, अनियंत्रित कुछ बस न उपाय।।

फिर वापस प्रभु के गृह लौटा, जिस दिन वीरों का वह दल।
उस दिन पुनः कहाँ बैठा था, छिपकर उनका समधिक बल।।
धनु शर और कृपाण पड़े थे, जाने कहाँ सरक कर सब।
और शांति की हँसी खिली थी, उन सबके आनन पर तब।।

अनु० 'भव्य'

चले गये वे छोड़ यहीं सब, निज जीवन के सारे फल।
फिर वापस प्रभु के गृह लौटा, जिस दिन वीरों का वह दल।।

(१२४)

सोचा था जो होने को था, घटित हो चुका वह सारा।
और पहुँच कर यहाँ थमी है, ज्यों मेरी यात्रा–धारा।।
लगा कि जैसे मार्ग न आगे, और न है अब कोई काज।
जो कुछ भी पाथेय रहा सँग, है निःशेष हुआ वह आज।।
मुझको नीरव अन्तराल में, आज कहीं होगा जाना।
लेकर इसी जीर्ण जीवन को, साजे छिन्न मलिन बाना।

पर यह आज देखता हूँ क्या, कैसी अन्तहीन लीला।
इसमें तो हो रही प्रवाहित, नूतनता अन्तःशीला।।
हुआ पुरातन वाणी का ज्यों, मेरी रसना में अवसान।
त्यों ही उमड़े मेरे उर में, कैसे–कैसे नूतन गान।।
जहाँ पहुँच कर पन्थ पुरातन, हुआ हमारा था निःशेष।
उसी जगह से तुमने मुझको, ला पहुँचाया नूतनदेश।।

(१२५)

मेरे गायन ने तज डाले, अलंकार अपने सब आज।
अब न निकट मेरे वह आता, अहंकार का सज कर साज।।
उभय बीच भूषण आ पड़ते,
मिलने में हैं बाधक बनते,
तेरी बात न सुनने देते, करते हैं कितनी आवाज।
मेरे गायन ने तज डाले, अलंकार अपने सब आज।।

तेरे सम्मुख टिक न सकेगा, मुझ जैसे कवि का अभिमान।
अहो महाकवि! यही चाहता, पाऊँ तव चरणों में स्थान।।

अनु० 'भव्य'

यत्न लगा कर यदि जीवन भर,
सरल बाँसुरी लूँ जीवन कर,
तो उसके सारे छिद्रों में, भर देना निज सुर रसराज।
मेरे गायन ने तज डाले, अलंकार अपने सब आज।।

(१२६)

कितने ही आघात न क्यों दें, मुझको निन्दा दुख अपमान।
तब भी समझूँ हुआ न इनसे, कुछ भी क्षत मेरा कल्याण।।
रज में जब भी पड़ा रहूँ मैं ,
आसन हेतु न तब तरसूँ मैं,
उसी दैन्य में बिना सकुच के, माँगूँ, करो अनुग्रह–दान।

करे प्रशंसा जब जग मेरी, जीवन जब हो सब सुखमय।
तब भी जान रखूँ इसमें है, विपुल वंचना ही निश्चय।।
इन्हीं छलों को सजा–सजा कर,
फिरता रहता अपने सिर धर,
तभी न मिलता अवसर मुझको, करूँ कि तेरे निकट प्रयाण।
कितने ही आघात न क्यों दें, मुझको निन्दा दुख अपमान।
तब भी समझूँ हुआ न इनसे, कुछ भी क्षत मेरा कल्याण।।

(१२७)

राजा की–सी सज देकर तुम, जिस शिशु का वेश सजाती,
पहनाती जिसको मणि रत्न हार।
खेल–धूल की खुशियाँ उसकी, हैं सारी ही छिन जाती,
बन जाते हैं भूषण–वसन भार।।
पा आघात न छिन्न कहीं हों,
धूल लगे धूसर न कहीं हों,

यही सोचकर निज को रखता, सबसे अलग बचाकर वह,
यदि खेले तो दुख का है न पार।
राजा की सी सज देकर तुम, जिस शिशु का वेश सजाती,
पहनाती जिसको मणि रत्न हार।।

होगा इससे क्या मेरा माँ, राजा–सा मुझे सजाकर,
क्या होगा ले, यह मणिरत्न हार।
धूप बतास धूल कीचड़ में, जा दौड़ूँगा मैं पथ पर,
यदि देती है माँ तू खोल द्वार।।
जहाँ सभी जन हिल मिल रहते,
दिन भर नाना क्रीड़ा करते,
जहाँ चतुर्दिक सहस सुरों में, कथा विराट हुआ करती,
है उसे न वहाँ प्रवेश–अधिकार।
राजा–की सी सज देकर तुम, जिस शिशु का वेश सजाती,
पहनाती जिसको मणि–रत्न हार।।

(१२८)

जीवन–वीणा के उलझे हैं, मोटे पतले जो दो तार।
इस कारण से ठीक स्वरों में, हो न सके उसमें झंकार।।
ऐसे जटिल बेसुरेपन से, मरण–व्यथा सहते मम प्राण।
बार–बार है ऐसा होता, रुक–रुक जाता मेरा गान।।
जीवन–वीणा शुद्व स्वरों में, कर न पा रही है झंकार।।

इससे व्यथा मुझे जो होती, सहन नहीं वह हो पाती।
तेरी सभा ओर चलने में, मुझे बड़ी लज्जा आती।।
वहाँ सभा में गुणीं जनों के, पास न बैठूँ , हो लाचार।
सबके पीछे खड़ा रहूँ मैं, निकट जहाँ पर निर्गम–द्वार।
जीवन–वीणा के उलझे हैं, मोटे पतले जो दो तार।।

अनु० 'भव्य'

(१२६)

गाने योग्य न हो पाया है, अब तक मेरा कोई गान।
देने योग्य न हो पाया है, अब तक मेरा कोई दान।।
लगता है मुझको करने को, अभी शेष है सारा ही।
संग तुम्हारे किया धरा जो, वह सब छल के द्वारा ही।।
जीवन पूर्ण बनेगा कब यह, इसका मुझे न कुछ भी ज्ञान।
और न ज्ञात मुझे कब होगा, जीवन–पूजा का अवसान।।

औरों की सेवा मैं करता, अर्घ्य प्राणप्रण से भर कर।
सत्य असत्य मिलाता उसमें, कि असत दैन्य न जाय उघर।।
तुमसे छिपा न कुछ है इससे, पूजूँ कर साहस इतना।
धरूँ चरण पर किये अनावृत, बस यह दीन प्राण अपना।।

(१३०)

तेरी लीला होगी मेरे भीतर।
इसीलिए तो आया इस धरती पर।।
इस घर के सब द्वार खुलेंगे, अहं सकल मिट जायेगा।
इस आनन्द जगत में मेरा, शेष न कुछ रह जायेगा।।
आयेगा जब मरण हमारा,उस क्षण मैं बच जाऊँगा।
मेरे भीतर तेरी लीला, होती है यह पाऊँगा।।
सकल वासनाएं मेरी तब, रह न सकेंगी प्रभु अवशिष्ट।
होंगी मग्न प्रेम में तेरे, वही प्रेम है मेरा इष्ट।।
होगा कितना ही विचित्र यह, सुखदुखमय है जो जीवन।
उसमें कुछ भी अन्य न होगा, तुम्हें छोड़ कर हे भगवन्।।

(१३१)

आ–आकर दुःस्वप्न कहाँ से, करते जीवन में हलचल।
रो, उठता, देखूँ जग कर तो, दिखे मातृ–गोदी केवल।।
सोचूँ कोई अन्य यहाँ है, होता प्राणों में भय व्याप्त।
आज तुम्हें हँसते लख समझूँ, तुमसे ही था दोलन प्राप्त।।

अनु० 'भव्य'

नित्य झँकोरा देता जीवन, प्रस्तुत कर निज सुख दुख भय।
इन्हें छोड़ कर कुछ न रहा ज्यों, इनमें ही ज्यों मम समुदय।।
प्रात–प्रभा पाकर क्षण भर में, नयन–तिमिर मिट जायेगा।
सब कल्लोल तुम्हारे सम्मुख, पूर्ण प्रभो, थम जायेगा।।

(१३२)

खोज रहा हूँ गीतों से मैं, तुमको बाहर औ' मन में।
खोज रहा हूँ तुमको ही मैं, चिर दिन से निज जीवन में।।
यह गायन ले गया मुझे है, कितनों के घर कितने द्वार।
गाते रह कर ताली देकर, जीता रहता हूँ संसार।।
कितनी सीख सिखायी इसने, गूढ़ पंथ भी दिखलाये।
अब तक उर–नभ में कितने ही, तारे इसने चिन्हवाये।।
सुख दुख भरे विचित्र देश में,
एवं विपुल मर्म अशेष में,
मुझे घुमा कर किस अनजाने, गृह लाये हैं सन्ध्या–क्षण।
खोज रहा है तुमको ही यह, चिर दिन से मेरा जीवन।।

(१३३)

तुम्हें खेजता रहता पर खोज न पूरी होगी।
तब भी जब मम जीवन की, अन्तिम घटिका होगी।।
नूतन जीवन वाले, नव लोक चला जाऊँगा।
नूतन दर्शन अपने, नव नयनों से पाऊँगा।।
नूतन आलोक प्राप्त कर नूतन हो जाऊँगा।
नूतन मिलन–सूत्र तेरा, पाकर तब धारूँगा।।
प्रभु! तव अन्त नहीं है, हे प्रभु! तव अन्त नहीं।
इस कारण फिर–फिर नव, लीला का अन्त नहीं।।
ज्ञात नहीं है फिर तुम, वेश कौन सा धर कर।
खड़े मिलोगे मुझको, पथ में सुमधुर हँस कर।।

अनु० 'भव्य'

मम कर लोगे कर में, मेरे निकट पहुँच कर।
मग्न प्राण कर दोगे, नव भावों से भर कर।।
खोज न पूरी होगी, अन्तिम क्षण भी जाकर।।

(१३४)

अन्तिम गायन में प्रभु मेरी, सकल रागिनी मिल जाये।
मेरा सब आनन्द उसी के, सुर में आकर खिल जाये।।
जो आनन्द प्राप्त कर वसुधा, मिट्टी की हँसने लगती।
पत्र लता तरु तृण के द्वारा, आकुलता व्यंजित करती।।
जिस आनन्द–लाभ से दोनों, पागल–से हो जन्म–मरण।
करते रहते भ्रमण भुवन में, कर ले उसको गान वरण।।
जो आनन्द रहा करता है, नयनों के उमड़े जल में।
व्यक्त हुआ करता जो अरुणिम, दुःख व्यथा के शतदल में।।
जो आनन्द प्रकट होते ही, देता सब कुछ रज में डाल।
जिसे न वाणी कह सकती है, दो उसको उस सुर में ढाल।।

(१३५)

जब तुम मुझको आगे पीछे, बन्धन में कर लेते हो,
तब लगता है मुझे न आगे, अब कोई है छुटकारा।
जब तुम मुझको दूर फेंकते, जा गिरता हूँ जब नीचे,
तब लगता है, रहा न कुछ भी, उठ जाने का अब चारा।।
सारा पाश–पुंज पर मेरा, आकर तुम्हीं खोल देते।
प्राणों को आश्रय देने को, कर–पलनों में ले लेते।।
मुझे डरा कर मेरी तन्द्रा, तुम यों दूर किया करते।
करके निद्रा भंग उसी क्षण, भय से मुक्त किया करते।।
रूप दिखाकर टेर लगाकर, प्राणों में तुम आते हो।
पर फिर जाने कहाँ किधर तुम, जा करके छिप जाते हो।।
तब लगता है मुझे कि अब मैं, पा न सकूँगा फिर तुमको।
पर क्या देखूँ, पता स्वयं का, पर क्षण देते हो मुझको।।

अनु० 'भव्य'

(१३६)

शिशु जैसी बलहीन दशा के, अभी और हैं जितने दिन।
अन्तःपुर के भीतर ही रे ! रह ले, रह ले उतने दिन।।
अभी चोट लघु गिरा सकेगी,
आँच स्वल्प भी जला सकेगी,
धूल तनिक भी लग कर तन में कर सकती है गात मलिन।।

होगा जब बल तेरे भीतर भर जायेगा प्राण।
उसकी पावक–भरी सुधा का, जब कर लेगा पान ।
तब स–वेग तू जाना बाहर।
शुद्ध रहेगा लेट धरा पर।।
सब बन्धन भी तन पर लेकर, विचरेगा ज्यों बन्धन–बिन।
शिशु जैसी बल–हीन दशा के, अभी और हैं जितने दिन।।

(१३७)

तुममें मेरा चित्त नित्य रत, और सत्य ही कब होगा।
सत्य, सुदिन ऐसा घटने का, अवसर जाने कब होगा।
सत्य–सत्य, जय करूँ सत्य मन,
करूँ बुद्धि का पूर्ण समर्पण।
निखिल जगत के सीमा–बन्धन, काट चला कब जाऊँगा।
सत्य सुम्हारी पूर्ण प्रभा का, दर्शन मैं कब पाऊँगा।।

तुमसे हटकर दूर असत में, मरता मिटता रहता हूँ।
भूत–राज्य में काण्ड न क्या–क्या, निशि दिन करता रहता हूँ।।
अहंकार मेरा धुल पुछ कर,
कब लय होगा तुम में मिल कर,
हूँगा सत्य जभी मैं तुममें, तभी त्राण मैं पाऊँगा।
होगा कब मैं पैठ तुम्हीं में, मृत्यु वरण कर पाऊँगा।।

अनु० 'भव्य'

(१३८)

बचा रखो मुझमें बस इतना, अहं कि तुम मेरे स्वामी।
देखूँ सभी ओर मैं तुमको,
मिलूँ तुम्हीं में दे सब तुमको।
चाहूँ तुमको निशि दिन प्रति क्षण।
इच्छा यही रहे मेरे मन।
मेरा अहं न तुम्हें छिपाये,
तुमसे यों निजता हो जाये।
प्राण भरोगे निज लीला कर।
मुझे रखा इस हित जग लाकर।
बाँध रखे कर डोर तुम्हारी,
यही कामना प्रभो! हमारी।
इतना–सा बस बन्धन रखना, तुम्हें मान रक्खूँ स्वामी।
बचा रखो मुझमें बस इतना, अहं कि तुम मेरे स्वामी।।

(१३९)

तुमने तो कुछ ऐसा यह प्राण दिया है भर।
खेद न होगा मुझको जो जाऊँ अब मैं मर।।
रात–दिवस भर कितने, सुख में कितने दुख में।
बजा किये हैं कितने, सुर मेरे इस उर में।।
कितने ही रूपों में लिया हमारा मन हर ।
खेद न होगा मुझको,जो जाऊँ इस क्षण मर।।
जान रहा हूँ तुमको, प्राणों से वरूँ नहीं।
तुम सर्वस्व हमारे, यह जी में धरूँ नहीं।।
जो कुछ पाया उसको, परम भाग्य ही मानूँ।
निज संस्पर्श दिया है, उर भाव यही आनूँ।।

अनु० 'भव्य'

विद्यमान तुम हो है, हुआ बोध तो इसका।
जानूँ मैं बस इतना, बड़ा भरोसा इसका।।
इस विश्वास–तरणि पर, मैं जाऊँगा चढ़कर।
खेद न होगा मुझको, जो जाऊँ इस क्षण मर।।

(१४०)

ओ हे माझी, ओ हे मेरे, मानव–जन्म–तरी के माझी।
तुम्हें सुनाई पड़ती क्या वह, वंशी जो दूर पार बाजी।।
तेरी तरि क्या दिवस अन्त पर,
घाट लगेगी अब की आकर,
सान्ध्य–तमस में भला वहाँ क्या, दीखेगी दीपों की राजी।।
लगता ऐसा मेरे मन में,
इसी मन्द गति मधुर पवन में,
सिन्धु–पार से हँसी किसी की, आज तिमिर पर चढ़कर छाजी।।
आते समय सुमन कुछ चुनकर,
लाया था मैं अपने सँग भर,
ताजे हैं उनमें जो उनसे, हो तव डलिया विधिवत साजी।।

(१४१)

चाह रहा हूँ एक साथ ही, मिटा चलूँ निज मन निज काया।
चाह रहा हूँ मिट ही जाये, मिट जाये यह काली छाया।।
क्यों न जला दूँ इसे अनल में,
क्यों न डाल दूँ जलधि अतल में,
क्यों न इसे तेरे चरणों में, डाल सदा के लिए चढ़ा दूँ।
चाह रहा हूँ इसी भाँति यह, विदलित होवे सारी माया।।
जहाँ कहीं भी मै जाता हूँ,
समासीन इसको पाता हूँ,

पाकर इसको अपने सम्मुख, लज़्जा से मै गड़ जाता हूँ।
चाह रहा हूँ हरण करो हे, घनीभूत यह काली छाया।।
कहीं न अनुभावों में मेरे,
होंगी तब बाधाएं घेरे।
एक पूर्ण ही रह जायेगा, दूर हटा यह सारी माया।
चाह रहा हूँ मिट जाये सब, मेरा मन मेरी यह काया।।

(१४२)

चाह रहा हूँ जाने के दिन, बात यही कह कर जाऊँ।
जो भी देखा जो भी पाया "सब अनुपम" यह कह पाऊँ।।
यहाँ ज्योति–जलनिधि–भीतर,
हैं जितने भी इन्दीवर,
उन सबका मधुपान किया है, "धन्य हुआ" यह कह पाऊँ।।
विश्व–रूप इस क्रीड़ास्थल में,
खेला कितने क्रीड़ा–दल में,
उस अरूप का दर्श किया है, ऐसा सबसे कह पाऊँ।।
स्पर्श न है जिसका हो सकता,
वह मेरे सब तन में बसता,
"आये अन्त अभी, तो आये", अन्तिम दिन यह कह पाऊँ।।

(१४३)

मैंने कर रक्खा आच्छादित, अपना नाम जिसे देकर।
मरण–दु:ख वह भोग रहा है, इसी नाम के बन्दीघर।।
सब कुछ तज कर करूँ अहर्निश, उच्च नाम–घेरा जितना।।
वह तम रचता, सत्य–रूप निज, ओझल होता है उतना।।
जमा चला हूँ तह–तह माटी, ऊँचा करता जाऊँ नाम।
छिद्र न शेष कहीं रह जाये, डरता मन विरहितविश्राम।।
इस मिथ्या के प्रति जितना ही, करता जाता हूँ उद्योग।
उतना ही खो देता निजको, घटता रहता ऐसा योग।।

अनु० 'भव्य'

(१४४)

नाथ! न जब यह नाम रहेगा, तब हो मुक्त बचूँगा।
हटकर निज निर्मित स्वप्नों से, तुझमें जिया करूँगा।।
तेरे कर का लेख ढाँक कर,
निज नामों की रेख आँक कर,
इतनी भीषण विपद सहन कर, कितना और जिऊँगा।।
साज सभी का हर करके यह,
सज्जित निज होना चाहे यह,
कहता है—मैं दबा सभी स्वर, निज स्वर उच्च करूँगा।।
अच्छा हो, नाम मिटे मेरा,
बसे नाम मुख में बस तेरा,
उस दिन बिना नाम परिचय के, सब के संग मिलूँगा।

(१४५)

बाँध रखा है बाधाओं ने, छूट जायँ यह चाह रहा।
चलूँ छुड़ाने जब इनको मैं, देती हैं ये दुःख महा।।
मुक्ति—कामना लेकर जब मैं, पास तुम्हारे आता हूँ।
तभी याचना करने में मैं, लज्जा से गड़ जाता हूँ।।
तुम्हें जानता हूँ तुम मेरे, जीवन के हो श्रेय परम।
ऐसा कोई और न धन है, जिसको जानूँ तेरे सम।।
तिस पर जो कुछ भी है घर में, टूटा—फूटा भरा यहाँ।
तजते उसे न बन पड़ता है, कैसे फेंकूँ उसे कहाँ।।

तुम्हें ढाँक कर मैंने उर में, सँजो रखा कितना रज—चय।
पाता रहता हूँ उससे मैं, बारम्बार मृत्यु का भय।।
यद्यपि मेरे प्राणों में है, उनकी ओर घृणा का भाव।
फिर भी कैसा विषम विडम्बन, उनके प्रति है लगा लगाव।।
देय चढ़ा है मुझ पर कितना, की है कितनी चालाकी।
कितनी ही है मिली विफलता, कितनी की ढाँका—ढाँकी।।
इस कारण उद्धार—हेतु जब, पास तुम्हारे आता हूँ।
तो मैं अपने मन में यह सब, सोच—सोच डर जाता हूँ।।

अनु० 'भव्य'

(१४६)

किस विधि तुमसे करुणा माँगूँ, यदि यह मुझको ज्ञात न हो।
तब भी लेना खींच चरण में , दया तुम्हारी मुझ पर हो।।
जो कुछ भी रच रखता उसमें, मौज–भरा भूला रहता।
लिये फूल–फल मैं सुख की ही, पूजा नित्य किया करता।।
रख न छोड़ना घृणा–भाव से, उन्हीं घरौंदों में मुझको।
करके दया जगा देना हे, अनल–शल्य से छू मुझको।।

द्विविधाओं के बीच पड़ा हूँ, सत्य मुँदा, न हुआ विकसित।
तुम्हें छोड़ कर उसे खिलाना, नहीं किसी को है सुविदित।।
करके भेदन मरणस्थिति को, धार सुधा की बह आये।
जिससे अन्तल दैन्य–रिक्तता, पूर्ण रूप से भर जाये।।
पतन–व्यथा के मध्य चेतना, आकर हो जाती स्पन्दित।।
तथा विरोधों के घन रव में, तव वाणी है सघन ध्वनित।।

(१४७)

जीवन में जितनी भी पूजा, अब तक पूरी नहीं हुई।
निश्चय जानूँ इतना वह सब, व्यर्थ नहीं है कहीं हुई।।
बिना खिले ही सुमन धरा पर, झर जाता जो बेचारा।
मिट जाती है मरु प्रदेश में, जाकर जिस सरि की धारा।।
जान रहा हूँ , जान रहा हूँ , जग में सार्थक है सारा।।

जो रह गया आज भी छूटा, पीछे अपने जीवन में।
मुझे विदित है मुझे विदित है, हुआ न तनिक व्यर्थ उनमें।।
जो है अभी अनागत मेरा, और अनाहत भी किंचित।
तेरी वीणा के तारों पर, सभी हो रहा वह मुखरित।।
मुझे विदित है मुझे विदित है, खो न गये हैं वे किंचित।।

अनु० 'भव्य'

(१४८)

मेरे एक नमन में ही प्रभु, मेरे एक नमन में।
सारा तन यह लोट पड़े प्रभु, तेरे जग–प्रांगण में,
सघन मेघ जैसे सावन में,
झुक जाते रस–भार–वहन में,
मेरा मन तव द्वार नमित हो, त्यों बस एक नमन में ।
मेरे एक नमन में हे प्रभु, मेरे एक नमन में।
विविध सुरों की आकुल धारा ,
मिलकर कर दे आत्म–विसारा,
हो समाप्त यह गायन सारा, नीरव जलधि–सदन में।
मेरे एक नमन में हे प्रभु, मेरे एक नमन में।।
हंस उड़ें ज्यों मानस–पथ पर।
निशि दिन अथक उड़ान एक भर,
महा मरण के पार प्राण सब, हों त्यों एक नमन में।
मेरे एक नमन में हे प्रभु मेरे एक नमन में।।

(१४६)

जीवन में चिर दिन से जिसका, मिलता रहा मात्र आभास।
और प्रभात–प्रभा में भी जो, खिल न सका कर प्राप्त प्रकाश।।
जीवन का जो अन्तिम दान,
जीवन का जो अन्तिम गान,
आज इसी से देव हमारे, उसे रखूँगा तेरे पास।
और प्रभात–प्रभा में भी जो, खिल न सका कर प्राप्त प्रकाश।।
कहें न शब्द जिसे निःशेष,
गहें गान–स्वर नहीं अशेष,
निभृत–निवासी वह चुपचाप,
नवल रूप में मोहन आप,
सखा हमारा छिपा हुआ है, मिले न दृग को जिसका भास।
और प्रात आने पर भी जो, खिल न सका कर प्राप्त प्रकाश।

उसको लेकर देश–देश में, मैंने भ्रमण किया है,
बना कि बिगड़ा, जो जीवन में, सबमें उसे लिया है।

अनु० 'भव्य'

सभी भाव में सभी काज में,
निज जीवन के सकल साज में,
निद्रा एवं स्वप्न राज्य में, किया सदा एकाकी वास।
और प्रभात–प्रभा में भी जो, खिल न सका कर प्राप्त प्रकाश।।

जाने कबसे कितने ही जन, चाह रहे उसको पाना,
चले गये सब बाह्य द्वार से, हुआ वृथा उनका आना।।
और न कोई जान सकेगा,
मेरा तेरा मिलन सधेगा,
ऐसी आशा सदा सँजोते, आया था निज हृदयाकाश।
और प्रभात–प्रभा में भी जो, खिल न सका कर प्राप्त प्रकाश।।

(१५०)

नित्य विरोध तुम्हारे सँग में, नहीं और अब सह पाता।
दिन पर दिन कितना ही मुझ पर, भार बढ़ा ही है जाता।।
सभावेश में सब आते हैं,
कर प्रणाम तुमको जाते हैं,
लख निज मलिन वेश मैं छिपता, असम्मान यों डरपाता।

कैसे मन की व्यथा जनाऊँ, मूक हो गया ज्यों मन है।
पास तुम्हारे जाकर भी वह, करता कोई बात न है।।
प्रभो, न अब उसको लौटाओ,
अपमानों के पार लगाओ,
कर लो उसको निज पद तल में,है चिरक्रीत, रखो नाता।।
नित्य विरोध तुम्हारे सँग में, नहीं और अब सह पाता।।

(१५१)

प्रेम–बाहु में तुम भर लोगे, बैठा हूँ बस इसी सहारे।
हुआ विलम्ब तभी तो इतने, अधिक बढ़ गये दोष हमारे।।
विविध विधान–पाश वे लेकर,
आयें तो रहता हूँ हट कर,
इस कारण जो दण्ड उचित है, सह लूँगा सब तोष सँभारे।
प्रेम–बाहु में तुम भर लोगे, बैठा हूँ बस इसी सहारे।।

अनु० 'भव्य'

कितने मेरी निन्दा करते, निन्दाएँ ये हैं असत नहीं।
उन्हें शीश रख कर मैं लूँगा, लघु से भी लघु पद सभी कहीं।।
अब तो बीत गयी है वेला,
है समाप्त क्रय–विक्रय मेला,
आये थे जो मुझे बुलाने, रोष–भरे वे लौट सारे।
प्रेम–बाहु में तुम भर लोगे, बैठा हूँ बस इसी सहारे ।।

(१५२)

जो–जो अन्य लोग हैं मुझसे, जग में प्रेम किया करते।
वे सब मुझको कठिन पाश में, बाँध–बाँध कर हैं रखते।।
अन्य डरें कि न भूल चलूँ मैं, अतः न अलग रखें मुझको।
काट रहा हूँ दिन पर दिन मैं, देख न पाता पर तुमको।
तुम्हें पुकारूँ या न पुकारूँ,
जो भी चाहूँ रहनी धारूँ,
पर निज सुख–हित तुम तो मेरे, सुख का पथ जोहा करते।
जो जो अन्य लोग हैं मुझसे, जग में प्रेम किया करते।
वे सब मुझको कठिन पाश में, बाँध–बाँध कर हैं रखते।।

(१५३)

भेजोगे हे, प्रेम–दूत कब, नाथ, कहो भेजोगे कब।
सभी द्वन्द्व मेरे जीवन के, मिट पायेंगे केवल तब।।
अन्य सभी जो आते घर में,
शासन करते, रखते डर में,
मम दुरन्त मन नित कपाट दे, उन्हें फेरता, लौटें सब।
भेजोगे हे, प्रेम –दूत कब नाथ, कहो भेजोगे कब।।
भेजो, अर्गल स्वतः हटेंगे,
बन्धान सारे स्वतः कटेंगे,
उत्तर उसकी टेरों का तो, देना होगा मुझको तब।
भेजोगे हे, प्रेम–दूत कब, नाथ, कहो भेजोगे कब।।
आता है वह जब भी तो वह, सदा अकेले आता है।
लहराती माला से वह निज, कण्ठ सजाये आता है।

लेगा मुझको बाँध खींचकर, वह उस मालासे ही जब।
चुप नितान्त रह जायेगा यह, हृदय शान्त होकर के तब।

(१५४)

गीत गवाये तुमने मुझसे, कितना–कितना छल कर के।
सुखमय क्रीड़ा के कितने ही, कितने दृग–जल निर्झर के।।
आते हो तुम नहीं पकड़ में, तुम्हें पकड़ने जब जाता।
निकट कभी आ जाते हो पर, त्वरित तुम्हें ओझल पाता।।
प्राण व्यथित करते हो प्रतिपल,
मुझे गवाते कर कितने छल।।
कितने–कितने तीव्र–तार से, निज वीणा करते सज्जित।
जीवन वंशी शत छिद्रों से, कर पूरित करते मुखरित।।
तेरे सुर की लीला में यदि, जीवन मेरा हो तल्लीन।
तो चुप करके रख लेना हे, करके चरणों में निज लीन।।

(१५५)

लगता है बस अन्तिम है यह, किन्तु कहाँ? अब भी यह शेष।
आता है तव सभा मध्य से, फिर–फिर से मुझको आदेश।।
नव गायन से नव रागों से, उर नव–नव जाग्रत होता।
स्वर–पथ पकड़ कहाँ जाता हूँ, लक्ष्य न कुछ मतिगत होता।।

स्वर्णिम आभा में सन्ध्या की, मिला–मिला कर अपनी तान।
राग पूरबी गाकर जब मैं, कर दूँ गायन का अवसान।।
तब निशीथ के गहन स्वरों में, जीवन हो उठता भर पूर।
और उसी क्षण इन नयनों से, हो जाती है निद्रा दूर।।
आता है तव सभा–मध्य से, फिर–फिर से मुझको आदेश।
लगता है बस शेष यहीं है, किन्तु कहाँ अब भी यह शेष।।

अनु० 'भव्य'

(१५६)

शेष मध्य रहता अशेष है, यही बात मन में आती।
आज हुआ अन्तिम गायन तो, यही बात मन में आती।।
सुर थम गया किन्तु तब भी वह, चाहे कभी नहीं थमना।
बिना प्रयोजन अब भी चलता, वीणा का नीरव बजना।।
पड़ते जब आघात तार पर, सुर झंकृत हैं हो जाते।
फिर भी परम श्रेष्ठ गायन के, निकट नहीं हैं हो पाते।।
जब आलाप सभी थम जाते, हो जाती जब वीणा शान्त।
तब पाती वह निज में उतरा, वही गान जो रहा महान्त।।
यह तो वैसे ही होता है, जैसे दिन गत होने पर।
सन्ध्या-वादन हो उठता है, गुरु गम्भीर स्वरों से भर।।

(१५७)

बीत जाय यदि दिवस और यदि, शान्त हो गया हो खग-गान।
अब तक का यह क्लान्त पवन भी , यदि रुक जाये ग्रस्त-थकान ।।
तो ढँक देना मुझको भगवन् ! ले घन तम-पट गहन गँभीर।
धरती को जिस भाँति ओढ़ाते, चुपके से निद्रा का चीर।।
जिस प्रकार तुम ढँक देते हो, निद्रित होते नयनों को।
करते हो जिस भाँति सम्पुटित, निशि में शतदल सुमनों को।।
पथ में ही निःशेष हो गया, हो जिसका सारा पाथेय ।
तथा पंथ में ही उभरी हो, जिसमें क्षति की रेख अमेय।।
अपमानों के रज में पड़कर, मलिन हुआ जिसका परिधान।
होने ही को हो जिसका बल , टूट-टूट कर अन्तर्धान।।
उसकी सब आघात -व्यथा को, कर देना हे, आच्छादित।
गोपनता गंभीर जुटा दो, कर उस पर करुणा ज्ञापित।।
उसकी लज्जा दूर करो वह,हो विकसित फिर देख प्रभात।
तिमिर-सुधा से सिंचित कर दो, हो जाये वह शीतल-गात।

— शुभम् —

अनु० 'भव्य'

बैजनाथप्रसाद शुक्ल 'भव्य'



आत्मज स्व० पं० राम अक्षयवर शुक्ल –
(संन्यस्त स्वामी ओमानन्द)

जन्म : ११ जुलाई १६१८
ग्राम – कोणरिया, पो० – दियरा,
जिला – सुलतानपुर, उ०प्र०

शिक्षा : बी०एससी० (सत्रार्ध)
प्रभाकर (हिन्दी ऑनर्स)

व्यवसाय : मुख्य लेखाधिकारी (सेवानिवृत्त)
दूर–संचार उ०प्र० परिमण्डल

सम्पर्क सूत्र : भव्य भारती, ७०, चाँदगंज गार्डेन
लखनऊ – २२६०२४
दूरभाष : (०५२२) ३३५२६२

सम्मान :
- **'काव्यश्री'** कन्हैयालाल प्रागदास स्मारक समिति लखनऊ द्वारा प्रदत्त १६८६
- **'व्यक्तित्व [illegible]तित्व' एम०फिल० लघु शोध प्रबन्ध,** लखनऊ विश्वविद्यालय १६६५
- रायबरेली रचनात्मक संघ राय[illegible]ली उ०प्र० द्वारा **प्रशस्तिपत्र–२००१**
- संस्कार भारती शिक्षा संस्थान विक्रमपुर हड़हा सुलतानपुर द्वारा बाबा **पुरुषोत्तमदास सहस्राब्दि प्रतिभा – २००१ सम्मान**

पुरस्कृत काव्य–कृतियाँ :–

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत –
द्रौपदी महाकाव्य – १६८६, कर्ण महाकाव्य – १६६१, मेघदूत (हिन्दी पद्यानुवाद)–१६६७

अन्य प्रकाशित काव्य–कृतियाँ :–

१. श्रीहनुमज्जयकार
२. विराट दर्शन
३. श्रीगीतागान (गीता का पद्यानुवाद)
४. आनन्द कुंज
५. अध्यात्म दोहावली
६. अध्यात्म गीतिका
७. नानक वाणी – जपुजी (पंजाबी से पद्यानुवाद, अवधी में)
८. सुधि गाँव कै (अवधी काव्य)
६. कुमारसम्भव (प्रथम पाँच सर्ग – हिन्दी पद्यानुवाद)
१०. भज गोविन्दम् (हिन्दी पद्यानुवाद)
११. नानक वाणी – जपुजी (पंजाबी से पद्यानुवाद, हिन्दी खड़ी बोली में
१२. भर्तृहरि नीतिशतक (हिन्दी पद्यानुवाद)
१३. भर्तृहरि वैराग्यशतक (हिन्दी पद्यानुवाद)
१४. गीताञ्जलि (हिन्दी पद्यानुवाद मूल बँगला से)

सम्मति

कविवर 'भव्य' जी ने अनेक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण काव्य रचनाएं की हैं जिनमें "द्रौपदी महाकाव्य" एवं "कर्ण महाकाव्य' विशेष चर्चित एवं पुरस्कृत हैं। मौलिक सर्जना के अतिरिक्त उन्होंने काव्यानुवाद के क्षेत्र में भी अपूर्व सफलता प्राप्त की है। श्रीमद्भगवद्गीता, मेघदूत, कुमारसम्भव, भर्तृहरि नीतिशतक एवं वैराग्यशतक जैसे महान संस्कृत ग्रन्थों का और पंजाबी के नानकवाणी (जपुजी) का उत्कृष्ट काव्यानुवाद कर इस क्षेत्र में भी अत्युच्च स्थान प्राप्त किया है। इसी क्रम में उन्होंने विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मूल बँगला कृति गीताञ्जलि का काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है जो अब तक के हिन्दी काव्यानुवादों में श्रेष्ठतम है। इसमें मूल कृति में निहित संवेदना की अनाविल अभिव्यक्ति है। भाषा की प्राञ्जलता, स्वाभाविकता, सरसता, नाद–सौन्दर्य और छन्द–विधान की उत्कृष्टता के कारण यह अनुवाद उदात्त एवं हृदयावर्जक है। इस महती उपलब्धि के लिए कविवर 'भव्य' जी साधुवाद के पात्र हैं।

कार्त्तिक पूर्णिमा
सं० २०५८ वि०

कमला शंकर त्रिपाठी
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
जयनारायण स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, लखनऊ

कविवर 'भव्य' अन्य अनुवादकों की लीक से हट कर अपेक्षाकृत अधिक भाव–मर्मी काव्यानुवादकार हैं। उन्होंने विश्व–विश्रुत कवि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत बँगला गीताञ्जलि के गीतों को पूरी संवेदनशील मनोवृत्ति से देख–परख कर उनके भाव–रस–सौन्दर्य का भावन करते हुये उन्हें अपनी मातृभाषा के माध्यम से जिस सहज कवि–सुलभ रमणीय कौशल के साथ हृदयावर्जक रूप में उपस्थित किया है, वह निस्सन्देह श्लाघनीय है। यह पद्यानुवाद उसके मूल बँगला रूप के अति निकट है। इससे बंगला भाषा से अनभिज्ञ हिन्दी पाठकों को भी मूल बँगला 'गीताञ्जलि' जैसा रसास्वाद मिलेगा – ऐसा विश्वास है। अतः ऐसी सुकृति के लिए 'भव्य' जी को हार्दिक बधाइयाँ।
सप्रणाम,

दीपावली
१७.११.०१

डॉ० उमाशंकर शुक्ल (शितिकंठ)
त्रिवेणी नगर, लखनऊ०